आँका सूरज बाँका सूरज



कविताएँ

केदार

की





राष्ट्रकवि दिनकर पथ
राजेन्द्रनगर, पटना-८०००१६

आँका सूरज, बाँका सूरज

(संचयन कविताओं का)

कवि : केदार

संचयन : स्वामी प्रेम जहीर

प्रथम संस्करण . फरवरी, 1986

मूल्य : 38.00

प्रकाशक : उदयाचल, राष्ट्रकवि दिनकर पथ, राजेन्द्रनगर,
पटना 800 016

मुद्रक : रुचिका प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

समर्पण

उन्हें
जो गा सकते हैं
बस
देर है
स्वर
जागने की

केदार

आँका सूरज बाँका सूरज

हर मन में बस गया

कत्रा, दरिया, बूँद, समन्दर
कितना भीतर? कितना बाहर?
फिर, अस्मत के क्यों व्यापारी
फिर बिकने की क्यों लाचारी?

पीर, औलिया, मुल्ला, पण्डित,
साहेब, गिर्जा, मन्दिर, मस्जिद,
मन्दिर में भगवान् नही है
धरती पर इन्सान नही है।

उत्तर-दक्खिन, पूरब-पच्छिम
साल, महीना, दिन औ' पल, छिन,
बँटने को आकाश नही है,
रुकने वाला समय नही है।

कैसे बाँटें?
कैसे रोकें?
बँट जाये वह नही गगन है
रुक जाये वह समय नही है।

अरे!
बुद्ध पर पागल हाथी?
तीर्थंकर के कर्ण-रन्ध्र मे
कील ठोंक दी?
ईश्वर के बेटे को सूली पर लटकाया?
रानी मीरा को प्याला भर ज़हर पिलाया?

क़तरा झूठा!
दरिया झूठा!
मस्जिद झूठी, मन्दिर झूठा!
बच्चे भूखे क्यों मरते हैं?
सच्चे जेलों मे सड़ते हैं!

मन को मन्दिर बन जाना था,
मन को मस्जिद बन जाना था।
मुझको साहेब बन जाना था,
मुझको गिर्जा बन जाना था।

मगर नहीं ऐसा हो पाया
हर मन मे हैवान बस गया!
हर मन मे शैतान बस गया!
नफ़रत की गर्मी से धरती
झुलस गयी है।

कैसा क़तरा?
कैसा दरिया?
कैसा साहेब, कैसी गिर्जा?
कैसा मुल्ला,
कैसा पण्डित?
कैसा मन्दिर,
कैसी मस्जिद?

—राजनीति के दाँव-पेंच है
महलों के संग साँठ-गाँठ है
भोले इन्सानों की रोटी
बन्दर बैठा बाँट रहा है।

क़तरा, दरिया, बूंद, समन्दर···

25.1.85

कोई परिचित पदचाप

उस दिन
आकाश धरती पर उतर आया था।

उसकी उँगलियों की गाँठों पर था
पहाड़ का उतार-चढ़ाव
और स्पर्श में था—
दूर झरते
निर्झरों का स्वर।

उसके माथे पर था
बुराँस का
एक टहक लाल फूल,
और उसके काँधे धरे कम्बल पर
रूई के फाहे-जैसी बिछी थी बर्फ़।
चन्दन की एक रेख
पड़ी थी ललाट पर।

उसके होंठ काँप रहे थे
जैसे पतली डाल पर से
अभी-अभी उड़ी हो
कोई गौरैया।

उसकी दृष्टि में थी
ओस की नमी,
साँस में—
कोई रागिनी।

उस दिन
आकाश धरती पर उतर आया था।

और धुर दक्षिण में
    जल उठे थे
    पद्मनाभ मन्दिर के असंख्य दीप
महाबलीपुरम का प्रस्तर-रथ-चक्र
        समुद्री अट्टहास पर
            लुढ़कने लगा था।

गृध्रकूट पर्वतशिखर से
        उतरने लगे थे बुद्ध
पीत सागर पर तिरे जैसे
    कोई सुविशाल श्वेत पोत
और जेतवन की झाड़ियाँ
    ख़रगोश को कुलाँचते देख
            काँपने लगी थीं
                हँसी के मारे।

चौकन्ने हो उठे थे
    मृगदाव के हिरण;
            कान खड़े कर
            पकड़ना चाह रहे थे वे
                कोई परिचित पदचाप!

उस दिन
    धरती पर उतर आया था आकाश!

26.10.83

आज यह…?

उस दिन
सुनते-सुनते तुम्हारा संगीत
लगा
मेरी आंख
बन गयी हो
समुद्र,
अनेक नन्ही नदियां
पटक रही हों सिर—
इसमें गिरने को।

आंसू तो
बहे थे कई बार
टपरते हुए गालों से
धरती पर गिरे थे।

मगर,
समुद्र का नही था पता,
एहसास नदियों का न हुआ,
आज यह क्यो हुआ?
आज यह क्या हुआ?

जुलाई, 82

नहीं लौट जायेगा

कलाएँ हैं मरहम
जख्मों को करती मुलायम
टीसें हरती हैं

कलाएँ हैं समुद्र
लोटकर इन पर
जो हवा आती है
सहलाती
छूती
ताप वह मिटाती है।

मगर राहतें बन जाती ऊब।

नहीं,
कलाएँ हैं ईश्वर की दूत
निर्बाध इन्हें
हृदय तक जाने दो।

स्वच्छ अन्तःप्रकोष्ठ में
कोई जब आयेगा,
विरमेगा;
द्वार देख बन्द नहीं
नहीं लौट जायेगा।

जून, [illegible]

बाँध नहीं पाओगे

दायरों में बाँधने की कोशिशें लाख करो
बाँध नही पाओगे।

हवा हूँ
बँधना नही जानता।
बन्धनों की हस्ती
नही मानता।

नसीहतें
बाँध नही पायेंगी हाथ
बेड़ियाँ बन
प्रयासाएँ क्योंकर रोक पायेंगी पाँव?

तरलता
मेरा गुण
स्वतंत्रता है धर्म।
भूलूँगा कैसे
जीवन का मर्म?

छीनने को संगीत झरनों का
प्रवाह बन्द करना पड़ेगा,
उनका।
नही है संगीत
झरने का,
संगीत तो जीवन का,
झरनों के होने का।

झरना जहाँ-जहाँ होगा
संगीत वहाँ-वहाँ होगा।

स्वतंत्रता जुड़ी है
मेरे होने से,
कैसे बाँध सकोगे?
कोशिशें लाख करो
दायरों मे
बाँध नहीं पाओगे।

24.7.82

कहाँ नसीब होती है ?

संगीत
जब मुझे बाँहों भरता है,
बाँहे तुम्हारी ही होती हैं।
वर्ना, क्यो न हर घड़ी
मैं
संगीत मे डूबा होता हूँ?
भाव की एकरसता
तुम हो
वह कहाँ नसीब होती है?

मई, 82

भाग जाते

तुम आते
नहलाते गीतो से,
चौंकूँ-चौंकूँ
जब तक
भाग जाते
हो जाने कहाँ?

मई, 82

बड़ा हो जाने दो, जन को

दुनिया
जब छोटी हो गयी है
तो उस सूरज को देखने चलो
जो वियतनाम में उगता
जवान होता क्यूबा मे
अमरीका मे डूब जाता।

दुनिया
जब छोटी हो गयी है
तो, उस चाँद को देखने चलो,
जो मारिशस मे होता निलछौंह
हांग-चौ के वेणुवनों में
ताकता-झाँकता
हिमालय की बर्फ़ भरी चोटियों पर
बिछ जाता।

क़रीब हो गयी है दुनिया जब
चलो, चलते हैं,
पूछते है लोगो से,
तलाशते यह नदी—
तूफ़ानी रातो मे पार करते थे
जिसे बायरन
या, किश्ती उतारते थे
शेली भी जब-तब।

चलो चलते हैं
इंग्लैण्ड के उन जंगलो मे

जिनमें अक्सर
गुनगुनाते फिरते थे टेनिसन
और ढूंढ़ते वह ढोका
जिस पर लिखा था उन्होंने
'टु डे बायरन डायड'
यानी,
'आज बायरन मर गया!'

आओ!
चलते हैं यूनान
कि मिल जाये मिट्टी का कोई कण
छुए होंगे जिसने पाँव—
सुकरात के।

बर्लिन की हवा में
चलो ढूंढते हैं
एक
कोई बचा-खुचा तार
बियोवन की
किसी सिम्फ़नी का।

या फिर,
बुलाते हैं विश्व भर को
सजाते बन्दनवार,
बोलपुर के निकट
शान्ति-निकेतन में;
बोध गया
और बेलूर मठ में

बेतवा के तटों को
सजते कचनारों से,
कुटजों से,
अशोक के फूल
लाल रतनारों से।

छोटी हो गयी है धरती
बड़ा हो जाने दो जन को।
संगीत,
नृत्य
और काव्य से
भर जाने दो त्रिभुवन को।

प्रक्षेपास्त्रों,
ऐटम बमों के
खींच लो प्राण।
भरो उनमें आदमीयत—
संगीत, नृत्य और गान!

28.5.83

हवा की चाल शराबी

गन्दगी पर चादर डाली जा सकती
मगर, हवा का कोई झोंका
गन्दगी के सर से
वह चादर छीन ही लेगा।

गन्दगी
चादर से मोह नहीं रखती
और
हवा की चाल—शराबी
बेख़बर,
अपने चसने से।

1.5.85

चीख़ने को ज़िन्दगी लाचार

मौत को ताने सुनाती जी रही।
घाव से उसका गरेबाँ सी रही।
ज़िन्दगी।

लेपकर चन्दन
मिटाना चाहती है ताप।
भूल जाना चाहती सवाद।
अजनबी एकान्त क्षण लाते जिसे।

शोर का कुम्बा उठाये माथ पर,
नूपुरों मे नृत्य की भरते सुरा।
छोडकर एकान्त का सान्निध्य
—भाग लेती ज़िन्दगी।

और
मन ऐसा
कि जैसे पात पर की बूँद
जब जरा सिहकी हवा
ढुलकी।

रौंदती है ज़िन्दगी को ज़िन्दगी।
काट खाती चूस जाती रक्त।
पीर जगती व्यक्त या अव्यक्त।
टूटता आकाश बारम्बार।
चीख़ने को ज़िन्दगी लाचार।

22.8.85

बहुप्रतीक्षित एक दिन

मुझे अफसोस है
कुछ शब्दों के लिए
क्योंकि
मैंने उनके महल
सूने कर दिये हैं,
दीवारों को कर दिया है निस्तेज,
स्वर्ण कलशों को सामान्य किया है।

मगर,
मैं नादिर नहीं
न तो अँगरेज,
जिन्होंने
लाल किले और ताज को
कर दिया खाली
रत्नों से,
मणियों से।

और, शब्दों का मामला भी
लाल किले या ताज-सा है नहीं।
जहाँ भी जड़ो
अभिव्यक्ति के रत्न,
वहीं बन जाता
कोई ताज,
कोई लाल किला,
कोई वेटिकन।

फिर
देर थोड़े लगती
बनते

एलिफ़ैण्टा,
एलोरा,
अजन्ता की गुफाएँ?

और जरूर
लोग उस दिन की अगवानी में खड़े हैं
जब स्वर्ग
धरती पर उतर आयेगा।
अवाम का रुत्बा
ख्वास के रुत्बे में
बदल जायेगा।

तो आओ!
जश्न मनायें,
आकाश को निनदित करें
आनन्द के कोलाहल से,
किरणों को नचायें!

बहुप्रतीक्षित एक दिन का उदय
होनेवाला है।

आओ!
कि पखेरुओं को
जगायें।

7.1.84

टूट चुकी है

हंगामा ज़ोरों का,
बहसों का जारी—अटूट सिलसिला।

लोगों का खयाल
कि बगैर पढ़े,
डूबेगा
हिन्दुस्तान का क़ाफिला।

वह जो लिख सकते
और वह
जो छाप सकते
ज़ोर-शोर से परेशान हैं—
क्योंकि आम लोग
बजाय ख़रीदने के किताबें
ख़रीदते मूंगफली

या फ़ुटपाथ पर
खाया करते समय
गप्पें करने, या,
चायें पीने में।

आख़िर हैं,
रोशनाइयों और क़लमों के फ़नकार,
जिन्दगी क्यों नही
फूलों का बिस्तर?

क्यों घट गयी हैं कीमतें—
शब्दों,
अर्थों,
बिम्बो की;
लोग रीझते क्यों नहीं, इन पर !

टूट गया है छन्दों का जादू,
स्वच्छन्दता बे असर !
लाख कोशिशो के बावजूद
बाकी
कहीं, कोई कसर।
बदल-सा गया है शहर।

नयी-नयी सड़कें,
मकानों का अम्बार।
ढूँढ़ना पुराना घर,
कठिन व्यापार।
नयेपन ने बना दिया है इसे
—अनजान !
मकान के सामने खड़े लोग
पूछते
'है कौन-सा मकान ?'
टूट चुकी है
फिर से बनानी होगी—पहचान।
अभी तो हाल यह

कि ये भी परेशान
वे भी परेशान।

8.1.84

अविकसित देश के नागरिक

पूरे हो जाते जब वाक्य
अक्षर और शब्द
जैसे उनमे घुल जाते।

अधूरे वाक्यों के अक्षर और शब्द
अविकसित देश के नागरिक है
उनकी नदियाँ
उनके खेत नही सींचती,
न तो उपजती—
उनके झरनों से बिजली।

दुनिया,
एक ऐसी किताब
जिसका एक भी वाक्य पूरा नही।
इस किताब मे कविताएँ ढूंढना—
मृत सन्तान की लाश लिये
हकीमों के दरवाजे घूमना।

अफसोस!
दवाएँ जिन्दगी को ठहरा तो सकती
लौटा नही सकती।
और दवाओं के जोर पर टिकी जिन्दगियाँ
किसी लोथ से ज्यादा
कुछ नही।

जीने की लालसा
यानी, उन्ही-उन्ही कामो को
दुहराने की लालसा।

कोई नयी ग़ज़ल
खिलावट की राह लगी
नहीं दिखती,
क्योंकि नही दिखता कोई शायर
गुनगुनाता।

हर आदमी
हवा के सरकने से
चौंक-चौंक जाता !

26.10.84

बुरी तरह शरमाते

मैंने धर्म से पूछा
तू हिन्दू है, या मुसलमान ?

और पहाड़
रेत का ढेर हो गया।

सारे जीवन मे
इस बुरी तरह शरमाते
मैंने किसी और को
नही देखा।

24.7.84

विदेशी आवाज़ों से बेहतर

महर्षि वाल्मीकि के पूर्व
यदि नहीं थी कविता
तो
मेरे लिए
स्कूलों-कॉलिजों को बन्द कर दो।
और, जड़ दो ताले
पुस्तकालयों के दरवाज़ों पर।

कोई गहरा सम्पर्क है
कविता का जीवन से।
उसके लिए
मैं गहरे से जीऊँगा।

जितने भी स्वर देती
बाहरी दुनिया
वापस कर देता
शरीफ़ कुआँ
मैं
अपनी शराफ़त खोना
नहीं चाहता।
विदेशी आवाज़ों से
बेहतर है
अपने जल में
डूब जाना।

16.9.84

कविताओं का इस्पात

मुझे नहीं है
और तुम्हें भी
नहीं होनी चाहिए
सम्पादकों से——
(जिन्हें न छपनेवाले
कवि और लेखक कहते
'मक्कार', 'बदज़ात'
और 'बेईमान')
——कोई शिकायत !

बड़ी दुनिया
इनकी घेरेबन्दियों से
रहती बाहर।
बमुश्किल अँट पाते ये
आप।

ये
जागे हुए स्वार्थवाले
बिललाये लोग हैं।
तुम अगर चाहो
तो हम चल सकते
उस दुनिया में
जहाँ
स्वार्थ
अभी उनींदा-उनींदा-सा है।

और
हमारे गीत
उसे ठण्डा कर सकते,
—एक जरूरी काम।

क्योंकि
जागते ही सबसे पहले
ये लगवायेंगे बोलियाँ
मोनालिसा की तस्वीर की।
वॉन गॉग के
काटेंगे कान।
डायनामाइट के पैसों से
कविताएँ ख़रीद लेंगे।

इन्तजार कर रही
बड़ी दुनिया;
इन घेरेबन्दियों में फँसने की
क्या जरूरत?
मैं
तुम्हें विश्वास दिलाना चाहता
एक-एक पेड़
तुम्हारी कविता
सुन,
समझ,
और सराह सकता।
और
राउरकेला की भट्ठियों में
तुम्हारी कविताओं का
बनाया जा सकता
—इस्पात।
जब भी चलेगी कोई रेलगाड़ी,
उड़ेगा कोई विमान,
उसके सुर, ताल और लय पर
तुम्हारे गीतों की छाप होगी।

5.2.85

पसीनों नहाये भारिये

बहुत लोग
कैद कर देना चाहते
शब्दों मे बहुत-सी बातें।
मैं,
शब्दों को
भारिया बनाना चाहता।
मुझे
अच्छे लगते
लाल-पीली धोतियों मे
पसीनों नहाये भारिये।
आकाशीय रूप हैं वे
सम्बन्धों के।

उन्हें थकना चाहिए
सुस्ताने को
किसी तड़ाग
या कूप पास—रुकना चाहिए
और चाहिए
आँकना
तय और बाक़ी दूरी का
हिसाब
होना चाहिए खुश
या हतोत्साह।
उनमे होनी चाहिए
बेर डूबने के पहले
गन्तव्य तक
पहुँचने की ललक।

कभी-कभी
टेंट मे धरी
नर्म पड़ती चिट्ठी को
टटोलना चाहिए;

क्योंकि, उनमें भरा होता
सास
या माँ का प्यार
बहन का स्नेह
या ननद का दुलार।
नैहर का मारिया
ले आना बाप का प्यार
पी के घरवाला
लाता बुलावा
पति का मनुहार।

मुझे मारिये अच्छे लगते।
लाल-पीली धोती मे
दुल्की चाल चलते
पसीनों नहाये मारिये
अच्छे लगते।

11.5.85

ख़याल रखना !

अगर मैं
पागल हो गया।
ख़याल रखना।
यों—
पागल करना भी जानती है
नज़र तुम्हारी ही !

जन, 82

एक हाथ करुणा का

अँधियारी रातों में छुपे सभी घर-दर,
सपनो के टुकड़ों से आसमाँ गया भर।

कहने को आये थे बहुतेरे साथी,
सीने पे था सवार दु:ख का हाथी।

तिनके-से उड़कर सब बिखर गये।
समय की तेज रफ़्तार हवा में
जाने सब किधर गये।

एक हाथ करुणा का, किसका आया?
अँजुरी भर फूलो से किसने नहलाया?

सिहर गयी डाल-डाल, पत्ती भी डोली।
असमय में रंग उड़े खूब मची होली।

कटखनी कुतिया

शब्दों के सौदागर!
उन्मादो के गीतकार!
जिन्दगी,
कटखनी कुतिया है
छोड़ती नही
किसी को।

मई, 82

सिहको सहसा

जैसे कोई फूल खिले
गन्ध उड़े
रंग बिखर जाये,
जैसे किसी पतली-सी शाख पर
नन्ही-सी चिड़िया
चहचहाये और उड़ जाये,

नदी की धार पर
उठे कोई लहर
गुम हो जाये।
मेरे भीतर तुम
सिहको सहसा
और थम जाओ!

जुलाई, 82

पाल तान दिया

मैंने दोनों हाथ उठाये
तुमने उन्हें थाम लिया।
नदी में नाव उतार दी मैंने
तुमने
पाल तान दिया।

मई, 82

चेग्वेवेरा

चेग्वेवेरा : एक नाम,
बरबस जो हाथ ले थाम।
कोरिया हो, या हो वियतनाम,
ग्वाटेमाला हो,
क्यूबा हो,
या हो सुरीनाम।
चेग्वेवेरा है,
आजादी के लिए
मिट जाने का नाम।

एक उन्माद का नाम है
—चेग्वेवेरा।
यौवन के सपनों का नाम है
—चेग्वेवेरा।
चेग्वेवेरा है
आजादी की मशाल।
चेग्वेवेरा है
दलितों के भीतर का उबाल!

गूँगे कण्ठों की वाणी है,
पिसती मानवता की आँखों का
पानी है।
चेग्वेवेरा का
नहीं कोई सानी है।

शायद, कोई दहशत है
कैसी यह दहशत है?

पहाड़ो पर घूम रहे टैंक,
जंगलों से
पूछ रही पता बन्दूकें;
'कहाँ है चेग्वेवेरा?'
'कहाँ है चेग्वेवेरा?'

नही वह जंगलों में नही वह पहाड़ो मे
चेग्वेवेरा है दिलों के उन्मादों में,
खून के बदले आजादी देने के वादों मे।
नही रहा वह ख़ास बना आम
बरबस थाम ले जो हाथ
चेग्वेवेरा वह नाम

चेग्वेवेरा : एक नाम
बरबस जो
हाथ ले थाम!

25.5.83

कविताओं से कटेंगे

लोग
कविताओ का उपकार मानते
ख़ासकर
जीवन से जूझनेवाले।

तोड़ सकती हैं
कुछ कविताएँ
सहनशीलता का कड़ा खोल
इससे निकला आदमी
आग का गोला
होता है
—विषमता और दुराचार पर
फट पड़ने वाला।

कुछ मन
चन्दन की सुवास जैसे होते हैं
कुछ कविताएँ
उनका गन्धभार
ढोती हैं।

गन्धभार ढो सकने वाली कविताएँ
हवा की तरह होती हैं—
कभी ठंडी,
कभी गर्म
और कभी नम।
दुर्गम
कोई स्थान नहीं
हवा के लिए।
और हवा
कुछ लोगों को अप्रिय लग सकती
क्योंकि चंचल है—
पर्दे हिला देनेवाली,
खुले पल्ले बजा देनेवाली।
और
हवा नटखट है
अपने कन्धों पर लदी धूल
किताबों पर झाड़
भाग खड़ी होनेवाली।

कुछ लोगों को
हवा
पसन्द नहीं आती।
जाहिर है
ऐसे लोग
कविताओं से कटेंगे।

23.3.85

सूर्योदय में कोई चीज

पिंजड़े में बन्द तोता
जितनी बातें बोल सकता,
पेड़ों पर रहनेवाले तोते
नहीं बोल सकते।
मगर,
पिंजड़े का तोता
जो भी बोलेगा
दूसरे तोते
उसे समझ नहीं पायेंगे।

उपलब्धि कहो इसे
या कहो—समय जाया करना
मर्जी अपनी-अपनी
ख़याल अपना-अपना।

उगते सूरज की कोई भी तस्वीर,
सवेरा नहीं ला पायी है।
सूर्योदय में कोई चीज है
जो तस्वीरों में
नहीं उतर पायी है।

8.3.85

दूर हो चुकी तुतलाहट

इसमें
कोई लाग-लपेट नहीं,
बात
सीधी और साफ़ है,
उस पहाड़ी जलाशय की तरह
देखे जा सकते
जिसके तल पर पड़े,
छोटे-बड़े
पत्थर के टुकड़े।

अब
सुविधाओं पर
नहीं लगाये जा सकते
पहरे।

उन्हें आज़ाद करानेवाले लोग
खून बहाने को तैयार हैं—
अपना
या
पहरे
बिठानेवालों का—
जब
जैसी होगी ज़रूरत।

बीते वर्षों में
आइसनहावरों की नहीं
बढ़ी है संख्या
चेग्वेवेराओं की,

मायकोव्स्कियों, नेरुदाओं की,
इकबालों, जोशों, दिनकरों की,
नजरुलों और ब्रेख्तों की।

दूर हो चुकी है
हक की तुतलाहट
किसी कद्दावर शेर की तरह
चलने लगा है
मानवीय अधिकार!

अब कुछ उपाय नहीं
आयोजित करो बड़ा हाँका
या तराशो ढेर सारे अभियोग
रचो न्याय-नाटक

दो देशों को निकाल
धरती फिर भी बहुत पड़ी है!

14.10.85

आँसुओं की क़ीमत

पी लीजिये आँसू,
धरती बहुत गीली,
हवा नम है।
ग़रज़ यह
कि आँसुओं की कीमत
बहुत कम है।

26.6.83

ख़बर देनेवाली कविता

वैज्ञानिक
जब लगा रहता,
भूख-प्यास भूल,
—नींद को बिसराये
किसी जोड़-घटाव
या गुणा-भाग में,

अथवा देखता,
अपने अन्वेषणों को लगा
आदमी की सेवा में—

कविता
निरन्तर अपने काम में लगी रहती—
मानिन्द आकाश!
जो ज़रा-सा
विचलित नहीं होता
सूर्य के उदय या अस्त से।

परमाणुबम गिराने की योजनाओं की
पहली ख़बर देनेवाली
कविता ही होती है

और वह भी
कविता ही होती
क्रन्दनों की
जो सहलाती पीठ
सान्त्वना के हाथों,
देती हिम्मत
कमर बाँध
विपत्तियों से लड़ने की।

16.10.85

इससे भी बड़ी कोई

आँख मे
आँसू का
डबडबा आना,
बूँदों मे बदलना,
गालों पर ठहर जाना;

कहना चाहते हों कुछ होंठ
मगर
बावजूद उनके हिलने के,
शब्दों का न बन पाना ···
कविता
क्या
इससे भी बड़ी कोई
होती है?

31.7.82

कुछ बीज गीतवाले

इस शोर की नदी मे
वह द्वीप, चुप्प, उभरा
पानी उतर रहा है
धरती जनम रही है।

इस पीठ पर उगेंगे—
कुछ बीज गीतवाले,
हरियालियाँ हँसेंगी
दिन होंगे फूलवाले।

18.12.85

वही वही है

ओ आसमाँ, जरा झुक
कुछ खास कह रहा हूँ।
झोंका बना हुआ, ले,
इस बार बह रहा हूँ।

इस बार सरहदों की
चल पायेगी नहीं कुछ।
इस पार भी वही है
उस पार भी वही है।

18.12.85

जब राह ही नशीली

हर एक तमाशा है हर एक तमाशाई।
यह कौन जग रहा है ? यह नींद किसको आयी ?

आसान तो नहीं है इन्सान बन जियें क्या ?
जब राह ही नशीली तब पाँव ही करें क्या ?

गिर-गिर रहे हैं चल-चल
मजबूत पाँववाले।
मजबूतियाँ सभी से
जाने न कब, कभी से—
खिलवाड़ कर रही हैं।

18.12.85

गति ज़रा कम

मजदूर
जब जवान रहता
नसों में कड़कती हैं बिजलियाँ
पुट्ठों मे
शक्ति का सागर
लहराता
मिहनत करने से
वह पीछे नही हटता
ज़रा-सी वाह-वाही पर
लुटाता श्रम
जैसे
किसी अमीर बाप का आवारा बेटा
पैसे लुटाता।

समय बीतते-बीतते
समुद्र सुस्त पडने लगता
और मजदूर
मजदूरी की कलाएँ सीखने लगता
कि जिससे
काम तो पूरा हो
पर
समुद्र सूखने की गति
ज़रा कम हो।

बूढ़ा मजदूर
सूखा समुद्र होता है
तल के गड्ढों मे बचे पानी से,

जीवन का खेत
किसी तरह
सोच पाता।

तुम्हारी आँखें
नम नहीं होतीं क्या?

31.7.82

खाँसता-खाँसता दोहरा

मुझे नहीं मालूम
कि क्या है उनके नाम
जो, सीनों में उतरी गोलियों का जवाब
लहू के फ़व्वारों से दे रहे
—नमीबिया में।

मुझे नहीं मालूम
उसे क्या कहकर पुकारा जाता
जो, बारूद के धुएँ में
खाँसता-खाँसता
दोहरा हो रहा।

किलिमनजारो की चोटियाँ लाँघ
पार कर
अछोर समुद्र
एक इन्सानी कराह
पहुँच रही
मुझ तक।
मिल रही गले
गाँधी पर चली गोलियों की
आवाज़ से
और रोती आ रही लगातार!

22.8.85

मरुस्थल बीच हरियाली

वही धरती कभी तपती
कभी हो सर्द उजली बर्फ़ से ढँकती
कभी सब्ज़ा, कभी धानी,
गुलाबी, और पीले, और नीले
रंग मनभाने।

मरुस्थल बीच हरियाली,
विजन मे खदकता दलदल,
कड़कती दामिनी नभ मे,
झमक कर टूटती शम्पा
नदी की चाल मे कलकल।

22.8.85

दर्द के कतरे मिलाकर

उदासी के कलेजे मे ज़रा-सा दर्द धरता हूँ।
नही मैं आह भरता हूँ नही मैं गीत गढ़ता हूँ।

छलक उट्ठी अगर आँखें, सँजो नमकीन पानी को,
समन्दर मे बदलने का, सिखाता राज़ मैं उनको।

उठी जो टीस सीने में खिली बन फूल होंठों पर।
तुम्हारे तीर भी थे खूब जो लौटे दुआ बनकर।

नही था बाँटने को, और कुछ, बस, एक खालीपन।
ख़ज़ाना लुट नही पाया यही बस इक उदासापन।

इसी में दर्द के क़तरे मिलाकर धुन बनाता हूँ।
नही मैं आह भरता हूँ नहीं मैं गीत गाता हूँ।

20.12.82

देखकर मँझधार को

बैठकर तन्हाइयो मे गीत गाता हूँ।
क्या बुरा करता अगर मैं गुनगुनाता हूँ?

जोड़ता हूँ तार,
जो दिखता नही,
उस तार से।
खींच
कोई सन्दली रेखा,
हवा मे,
मुस्कुराता हूँ।

क्या बुरा करता
अगर मैं गुनगुनाता हूँ?

छोड़कर यह शहर
यदि मैं गाँव मे रहता,
गाँव से भी दूर
ठंडी छाँव मे रहता।
चाँदनी से,
रात में,
मैं बात करता हूँ।
क्या बुरा करता
अगर मैं गुनगुनाता हूँ?

जोड़कर रिश्ता हवा से
पाल बन जाता।
इक् भटकती नाव को मैं
पार ले जाता।
देखकर मँझधार को मैं
कसमसाता हूँ।
क्या बुरा करता
अगर मैं गुनगुनाता हूँ?

13.12.82

गद्‌गद···यह गान

पता नहीं
इन पगडंडियों पर लौटना
होगा कि नहीं।
पता नहीं
इन मेड़ों पर
दुबारा चल पाऊँगा
कि नहीं।
मेड़ों से सटे
धान के ये खेत
जिन्होंने
हरे नृत्य से
मुझे आनन्दित किया।
पगडंडी की बगल खड़े
तरह-तरह के पेड़,
लताएँ, गुल्म और झाड़ियाँ
इन्होंने
मेरी यात्रा को
छाँह दी
सुगन्ध दिया।
इनमें चरते मेमनों और भेड़ों की चौकड़ियाँ
प्राकृतिक निस्तब्धता भंग कर
उनका 'मे-में' कर मिमियाना
कैसे
भूल पाऊँगा?

गायों के गले बँधी घंटियों की 'टुन-टुन'
और
रँभाते बछड़ों की 'बाँ ऽ बाँ ऽ…'
मेरे भीतर
पत्थर की लिखावट हो गयी है।
पता नहीं
इन मेड़ों-पगडंडियों पर
वापस हो सकूँगा
कि नहीं।
राहो ने
जो इतना स्वागत किया है
दिया है
बेहद सम्मान
इसके बदले दे क्या सकता
सिर्फ हर्ष के कुछ आँसू
गद्गद,
भर्राये स्वर में
यह गान।

26.8.82

कैसे कर पाते होंगे प्यार

वह लोग
जिनके दरवाजे से
लौट आती सुगन्धें
जैसे—कोई कवि
और उन्हें
जरा नहीं आता
अफसोस
मैं समझ नहीं पाता
कैसे वे
कर पाते होंगे प्यार
अपने बच्चों को।

19.12.85

अपने सारे प्रश्न ठुनकते

सारी दुनिया सो जाती है जगते केवल स्वप्न
जैसे बीजों मे सोये हों पेड़।

बहुत देर से सुला रहा मैं
थपकी दे-दे गाकर लोरी
अपने सारे प्रश्न
मगर ठुनकते,
हाथ मारते,
पाँव मारते,
मना रहे वे जश्न
बेला हुई अबेर
सारी दुनिया सो जाती है जगते केवल स्वप्न
जैसे बीजों मे सोये हों पेड़।

19.12.85

डाल तक आने से रोक

दरवाजे पर खड़े लोग
ऊँचे स्वर मे बतिया रहे हैं।

मैं सोना चाहता हूँ
मगर,
ये मुझे सोने देंगे नही।

इनके ठहाकों का वज्र-निनाद
नींद की परतें तोड़ देता है।

ऊपर से उतरती चिड़िया को
डाल तक आने से
रोक देता है।

मई, 82

अधिकार नहीं होता

कुछ चीजें
लॉकरो मे नही रखी जा सकती,
न तो
डायरियों मे
दर्ज की जा सकती।

ऐसी चीजो की जगह
कविताएँ हैं
या
कागज
या दीवारों पर
उगाये
या खोदे गये चित्र।

एक ताजमहल है
जो
कविता है
और नही भी।
ताजमहल
जब-जब
इतिहास के पन्नो पर उगता है
कविता नही रहता।
और वही ताजमहल
जब आगरा क़िले के
किसी स्तम्भ पर जड़े
नन्हें शीशे में
प्रतिबिम्बित होता
एक पूरी कविता बन जाता।

आदमी
जब सौन्दर्यपूर्ण हो जाता
घटना के नीचे पड़ी लाल रेखा
कविता की होती है।

और सौन्दर्य?
अमराइयों की जमीनदारी नही।

सौन्दर्य पर
सुन्दर-से-सुन्दर चीजों का
अधिकार नही होता।

पश्चात्ताप,
क्षमा से कम सुन्दर नही।
न तो असुन्दर है,
बलात्कारी
लहू नहायी तलवार!

15.12.85

कितनी गर्मजोशी

बहुत ज्यादा नही
चावल से भात की दूरी
मगर, सही - सलामत पहुँचना
कितनी गर्मजोशी माँगता है?

25.6.85

उत्तर सिर्फ चुप

लोग
तुम्हारा पता
पूछते हैं—मुझसे।
मुझसे लोग तुम्हारा पता पूछते हैं,
मगर, मैं उन्हें क्या बताऊँ?
जब भी मिलता हूँ
तुम्हारा पता पूछने की सुध नहीं रहती।
मैं लोगों को क्या बताऊँ?
सपनों की बातें
उन्हें क्या समझाऊँ?

गर्मी के दिनों में
ठंडी छाँह पसारे कोई वृक्ष,
या, शीतल जल का उपहार लिये
कोई कुआँ।

आसमान में उड़ते परिन्दे
आसमान का पता क्या बतायें?
सागर की मछलियाँ,
कहाँ है सागर—
क्या बतायें?

तर्कों और प्रश्नों से
पिटाई करते रहो।
उत्तर
सिर्फ चुप है।
सिर्फ चुप !

नक्षत्रों के हुक्म पर

कई-कई टोलो मुहल्लों मे बँटा है शहर
लोगों के पेट में पूरा-का-पूरा अँटा है शहर।
उच्चालय है,
औषधालय है,
चिकित्सालय है,
विद्यालय है,
कई-एक दफ़्तरो से
भरा है शहर
कई-कई टोलो, मुहल्लों मे बँटा है शहर

मुहल्ला यह अमीरों का,
वह है गरीबो का।
यहाँ — वह अफ़सरो का,
आगेवाला बाबुओ का।
इसे कहते हैं भंगियो का,
बाजू मे रंडियों का।
बहुधन्धियो मे भरा है शहर
कई-कई टोलों-मुहल्लों मे बँटा है शहर।

कुछ घरों मे मन्दिर है
कुछ मन्दिरों मे घर हैं
देश भर मे
इस शहर-से
कई शहर हैं!

मगर,

और शहरो से क्या लेना-देना ?

मरने को काफी है

एक यही शहर।

चुना नही है

हमने इसे शौक से।

वह तो

जन्म साथ ज्योतिषयो ने गुना है

नक्षत्रों के हुक्म पर

चलता है शहर

कई-कई टोलो-मुहल्लो मे

बँटा है शहर।

29.5.83

कि जैसे क्षोभ से भरता

घने कुहरे-भरा आकाश मन का

जब कभी होता कि बाहर से

कँटीले तार के

कसते

कई बन्धन।

उबलकर

खोलकर मन-सर

जगाता है हमें सत्वर।

सपुतम-मारवाले कण-प्रहारो से

कई हलचल भरे परमाणु मे सरजन

कि कोई नील ऊर्जा खोजती

नभ मे विकट नर्तन,

किरण की पीठ पर आसीन हो

निर्बाध-गति-विचरण।

वही ऊर्जा
अभी जो है रखे
परमाणु को जिन्दा
छिटककर चाहती उड़ना
नये परमाणु को गढ़ना।

धरा का, पर, विपुल कर्षण
बचाता है व्यवस्थाएँ
अनागत
कल्पना के गेह में
विश्राम करता-सा।

कि नभ में सूर्य
जैसे लोल लपटों बीच है नचता
कि ऊर्जा में विसर्जित अनवरत
स्वयमेव को करता
कि पड़ता बाँटना खुद को
नया कुछ भी बनाने हित।
मगर यह बाँटने का काम
सुधियों से नहीं होता।

महत्तम ताप से होता
प्रबलतम वेग से होता।

कि सारे सोचने के क्रम
बिखरते हैं जहाँ जिस क्षण
वहीं खिलता कमल नीला
वहीं का वारि है पीला।
कि जैसे चुम्बकी-विद्युत्-तरंगें
अक्स बनती हैं
कि बजती हैं किसी सुर में
अनोखे शब्द बनती हैं।
किसी एकान्त से फेंकी गयी
ऊर्जा तरंगें हैं।

कि नभ में मेघ जो घिरते,
पवन-स्कन्ध पर उड़ते,
सघन संघर्ष से भरते,
कि जैसे क्षोभ से भरता
हमारा मन
अभावों को वहन करते।

तड़ित अंगड़ाइयाँ लेती
कड़क, उत्कण्ठ हो उठती
हवन करते स्वयं को घन
कि जैसे चक्रवातों में।

4.8.85

खरा सोना बचाने को

इधर भी देखिये कुछ है
उधर भी देखिये कुछ है।
इधर जो है उधर भी है,
उधर जो है इधर भी है।

इधर कुछ है
उधर कुछ है
इधर भी देखिये—
कुछ है।

इधर इन्साँ उधर इन्साँ
इधर आहें उधर पायल
इधर औरत उधर औरत
इधर आँचल उधर झालर।

इधर पर्वत उधर पर्वत
इधर हैं फूटनेवाले !
इधर सागर उधर सागर
उधर हैं सूखनेवाले।

इधर का देवता तकता
बिखरना स्वप्न का प्रतिपल
उधर का देवता मशगूल
फ़ैशन के नजारों में।

इधर मिट्टी उधर मिट्टी
इधर क्यों फूल उगते हैं ?
कि जिनको तोड़कर
उस पार,
पत्थर पर चढाते हैं।

उधर से जब मिली सौगात
काँटो से रही सज्जित।
इधर का हाथ जब धोया
उधर कोई नही लज्जित

इधर इक् आग भड़की है
धरा सोना बचाने को
उधर के चेहरों मे आग की दहशत
समायी है।

7.8.85

गह्वर में कुछ

कुछ पन्ना कुछ हीरा जैसा
जीवन कुछ-कुछ पीड़ा जैसा।

कुछ गेहूँ में लगी बालियाँ
कुछ बीजों के बन्द रहे मुँह
पन्ने कुछ के खुले
किताबें ज्यादातर तो मुँदी रह गयी।

घूँघट - घूँघट घेरे - घेरे
किसको उठाये किसको छेड़े !

कितने देखे सौ अनदेखे।
देखे - दाखे सब अनदेखे।
लहरें ऊँचा-ऊँचा उठ-उठ
सागर का हैं पता बताती
तूफ़ानों के ज़रिये कहती
'हवा—रुको, मैं भी हूँ आती।'

सुना - सुनाया खो जाता है
दिखा-दिखाया खो जाता है
रह जाता है खालीपन भर
सूनी आँखें सूना-सा मन।

हीरा पत्थर पन्ना पत्थर
पीड़ा पैठी मन के गह्वर
गह्वर में कुछ हलचल जैसा
जीवन कुछ-कुछ पीड़ा जैसा।

15.1.85

आँका सूरज, बाँका सूरज

इक् सूरज जो उगता सूरज
इक् सूरज जो ढलता सूरज
कुछ सूरज
बादल के पीछे
मध्य गगन पर दिपता सूरज
किसकी बातें भला बताऊँ?
किसकी चर्चा गुम कर जाऊँ?

आँका सूरज
बाँका सूरज
धान पकानेवाला सूरज नाच पलक पर
दूर झलककर
नींद उड़ानेवाला सूरज
फटे मेघ से झाँक - झाँककर
धुन्द व्यूह को चाक - चाककर
जगमग करनेवाला सूरज
किसकी बातें भला बताऊँ?
किसकी चर्चा गुम कर जाऊँ!

प्राची को रक्तिम जो करता पश्चिम को भी लाल बनाता

दो लाली के बीच दिवस भर
स्वर्णिम-पीला रहनेवाला
उगनेवाला ढलनेवाला
जलनेवाला बुझनेवाला
बादल को बहकानेवाला
धरती को तड़पानेवाला
किसकी बातें भला बताऊँ?
किसकी चर्चा गुम कर जाऊँ!

13.10.85

गह्वर में कुछ

कुछ पन्ना कुछ हीरा जैसा
जीवन कुछ-कुछ पीड़ा जैसा।

कुछ गेहूँ में लगी बालियाँ
कुछ बीजों के बन्द रहे मुँह
पन्ने कुछ के खुले
किताबें ज्यादातर तो मुँदी रह गयीं।

घूँघट - घूँघट घेरे - घेरे
किसको उठाये किसको छेड़े!

कितने देखे सौ अनदेखे।
देखे - दाखे सब अनदेखे।
लहरें ऊँचा-ऊँचा उठ-उठ
सागर का हैं पता बताती
तूफानों के ज़रिये कहती
'हवा—रुको, मैं भी हूँ आती।'

सुना - सुनाया खो जाता है
दिखा-दिखाया खो जाता है
रह जाता है खालीपन भर
सूनी आँखें सूना-सा मन।

हीरा पत्थर पन्ना पत्थर
पीड़ा पैठी मन के गह्वर
गह्वर में कुछ हलचल जैसा
जीवन कुछ-कुछ पीड़ा जैसा।

15.1.85

आँका सूरज, बाँका सूरज

इक् सूरज   जो उगता सूरज
इक् सूरज   जो ढलता सूरज
कुछ सूरज
बादल के पीछे
मध्य गगन पर दिपता सूरज
किसकी बातें भला बताऊँ?
किसकी चर्चा गुम कर जाऊँ?

आँका सूरज
बाँका सूरज
धान पकानेवाला सूरज   नाच पलक पर
दूर झलककर
नीद उड़ानेवाला सूरज
फटे मेघ से   झाँक-झाँककर
धुन्द व्यूह को   चाक-चाककर
जगमग करनेवाला सूरज
किसकी बातें भला बताऊँ?
किसकी चर्चा गुम कर जाऊँ!

प्राची को रक्तिम जो करता   पश्चिम को भी लाल बनाता

दो लाली के बीच   दिवस भर
स्वर्णिम-पीला   रहनेवाला
उगनेवाला   ढलनेवाला
जलनेवाला   बुझनेवाला
बादल को   बहकानेवाला
धरती को   तड़पानेवाला
किसकी बातें भला बताऊँ?
किसकी चर्चा गुम कर जाऊँ!

13.10.85

चित्त पड़े तिलचट्टों की नगरी में

बजाय पोस्ट करने के
मेरे नाम लिखी
मां की चिट्ठियां,
कुठिया में धरे सत्तू भांड में धर
निश्चिन्त होनेवाले दादाजी
नहीं रहे।

घर के संवाद
डालते
पढ़ाई में खलल
—इस समझवाले दादाजी
नहीं रहे,
नहीं रही मां।

अब
सारा काम
मुझे ही करना पड़ता।

चिट्ठियां लिखना
उन्हें भांड में धरना
और एक दिन
उन्हें पड़ा देख
उदास होना…
टूटा नहीं
सिलसिला।

जारी है
मेरी पढ़ाई,
अव्वल होने की डिग्रियां बटोरना
और फिर
उन्हें बेच देना
कभी फिज

तो कभी घर
कभी होटल
तो कभी सफ़र
के बदले।

यह किस्सा
जब मैंने अपनी पत्नी से कहा
वह इसका अर्थ पूछने लगी।

यह क़िस्सा
जब मैंने अपने बेटे से कहा
उसने होंठ बिचकाये।

और यह क़िस्सा
जब मैंने अपने मित्र से कहा
'हो-हो' कर वह हँसा।

और मेरे भाई
और मेरी बहनें
जिनके पत्र
इसी तरह
पोस्ट होने से रह गये थे
जब मैंने उनसे यह किस्सा सुनाया
लगा
जैसे वह नींद से जागने की कोशिशें कर रहे हो।
या कि
चित्त पड़ा तिलचट्टा
फड़फड़ाये अपने पंख
सीधा होने को।
चित्त पड़े तिलचट्टों की नगरी में
मैं हवा बन गया हूँ,
उनकी छटपटाती टाँगें
फड़फड़ाते पंखों से पीटा जाता—
अनवरत।

मैं उनके लिए कुछ नहीं कर सकता
कुछ नहीं कर सकता
सिवा इसके
कि अब भी
उनके फेफड़ों से उठे
प्राण-वायु की माँग,
मैं उसे पूरा करूँ!

4.11.84

हँसे खिवैया ताके नैया

चलते - चलते मिली तलैया
एक थी नैया, एक खिवैया।

गहरा पानी नील तलैया
बरगद भैया पीपल भैया

चल रे पछुआ,
उठ पुरवैया

नील तलैया एक खिवैया

नील तलैया के पानी में
मछली-मछली
नीली मछली पीली मछली
रंग-बिरंगी छप-छप मछली
हँसे खिवैया
ताके नैया
चलते - चलते मिली तलैया
एक थी नैया एक खिवैया।

19.3.85

आसमान के टुकड़े पसन्द नहीं

तूफान
किसी कमरे में बन्द रहे
यह उसकी शान के खिलाफ है।
तूफान तो उठते हैं
कमरों की मौत बन।

तूफ़ान का बार-बार उठना
सबूत है
इस बात का
कि आसमान के टुकड़े करना
कहीं
पसन्द नहीं किया जा रहा।
चलो
हम चलते वहाँ
जहाँ से तूफान
उठते हैं।

25.2.85

बिजलियाँ सोख सकें

बच्चों की शिकायतें सुनने में
बड़ा लगता मेरा मन।
कपूर-सी उड़ जानेवाली
ये शिकायतें जब
बड़ी आवाज के लिए तैयार हो रहे कण्ठों से निकलती
इनके घावों से
पोंछती रहती रक्त मासूमियत
और ताजा गुलाब-से होंठ
सहलाते रहते दुखती रगें।

मगर, ये आपसी बातें हैं।
इतना ही निश्चिन्त
मैं उस समय नहीं रहता
जब बच्चे के पीछे पड़ा रहता
कोई कुत्ता
या, कोई साँप
उसे डँसने को दिखता तत्पर,
बच्चे तो होते ही धरोहर।

उनके लिए
हमें ऊँचा घर बनाना है
जिसकी नींव भूकम्प झेल सके।
और गुम्बदों पर टूटें यदि बिजलियाँ
हमारा इन्तजाम
उन्हें सोख सके।

13.10.85

तू न रही तू

तू दुनिया नहीं
हवा का झोंका थी
कैसी
दैवी सुगन्ध से भरी-भरी !

आज जब तू नहीं है,
तेरी कमी
तेरे गुणों का बखान करती है।

वे पत्थर-दिल इन्सान
—कि अँधेरे की सन्तान
दबे-दबे-से
कहते—
"औरत,
यह औरत नहीं थी,
कुछ और थी—
शायद माँ !"



मैंने देखा था
लोगों को
शूल चुभोते
तुम्हें
तड़पते
और उन्हें
ठठाते।

मगर,
तुम्हारे तड़पने में
देवताओं का नृत्य था।

कोई तेज
समेटता चला गया तुम्हें
अपने वर्तुल में
दिनानुदिन
और
जीवन के अन्तिम दिनों में, यद्यपि,
तुम्हारा शरीर झुलस गया था—
पूरा हो चुका था अन्त मन्दिर
देवता हो चुके थे पीठासीन

तू न रही थी तू
कोई भजन
कोई कीर्तन हो गयी थी।

मई, 82

कभी नहीं रुकती

नदी बहती जा रही थी।
उठ रही थी तरंगें,
गिर रही थी।
···और नदी,
बहती जा रही थी।

कहीं,
किसी पहाड़ से टकराती,
तट के किसी पेड़ से,
बतियाती,
ग्रामीणों को नहलाती,
शहर की गन्दगी बहाती,
···नदी बहती जा रही थी।

भरी दोपहरी मे,
तट की किसी मठिया पर,
पुरवैया की सहलाहट से अलसाया,
सोया था कोई गँवई।

रह-रहकर कुराँता था
पडोस की नीम पर बैठा कौआ।

सब
देखती-सुनती,
'''नदी बहती जा रही थी।
बहती जा रही थी।

गाँव के पूरब,
श्मशान घाट पर,
माँ की लाश लिये,
जब मैं पहुँचा था,
ज़रा-सा भी तो,
नही चौंकी थी नदी,
ज़रा-भी, नही हुई थी उदास।

कातिक की शर्मीली साँझ मे,
नयी साड़ियो मे लिपटी
ललनाएँ,
माथे पर प्रसाद का दौरा उठाये
युवक और प्रौढ़,
और किलकते बच्चे,
जब पहुँचते थे नदी किनारे,
नदी
तब भी नही थमती थी।

अस्ताचलगामी सूर्य को
अर्घ्य चढाती वरतिनें
देखती
कुछ देर को उनमे
कलरव को सुनती
'''बहती रहती थी नदी।

नदी
कभी नही रुकती,
उठती-गिरती तरंगों-साथ
बहती ही रहती।
बहती ही रहती।
नदी

मई, 82

जीने को रीता

"मैं
तुम्हारी सारी व्यथा
सारी थकान हर लूंगा।
मैं तुम्हे
फिर से ताजा कर दूंगा—"
कहता था
गाँव के 'पुजारी कोन'वाला
तालाब।
जिन पर
हम धूम मचाते थे
तालाब के वे भिण्डे
ढह गये है।

तालाव

तालाब नही रहा
बड़ा गवड़ा हो गया है।

मगर,
बदस्तूर
पुकारा जाता वह
आज भी
'तालाव' के नाम से।

किनारे खड़ा
कटहल का पेड़
आज भी खड़ा है,
मगर घट गयी है,
मिट्टी पर से
उसकी जड़ों की गिरफ्त।

पेड़ मरा नही है
जिये जा रहा है।

माँएँ
अब बच्चो को
तालाब पर आने नही देती।
क्योंकि
कहते हैं
ढहे हुए भिण्डो मे
बाँबियाँ हैं
जिनमे बसते
जहरीले नाग
और यह भी
कि कटहल का वह पुराना पेड़
भुतहा हो गया है।
बसने लगा है उस पर
कोई ब्रह्मराक्षस।

बूढ़ा पेड़
अपने भाग्य पर रोता है
और विसूरता है तालाव।
न तो कटहल की डालों पर
चढ़ते बच्चे
न तालाब में नहाता
कोई आदमी।

तालाब
बूढ़ा इन्सान बन गया है,
बूढ़ा इन्सान
निरुपयोगी
थका हुआ तन ढोता
अनेक उपालम्भों
अनेक उपहासों बीच
जीने को रोता।

21.7.82

स्थिर रहे पत्ता

नही होता आसान
तलवार की धार पर पाँव जमाना।
बहुत मुश्किल-सा काम
एक लक्ष्य पर चित्त को टिकाना।
हवा बहे और स्थिर रहे पत्ता
नाचे नहीं प्रकाश
हल्के-से झोंके पर,
जरा मुश्किल है।

जून, 82

कंगूरे गिरना स्वाभाविक

बादल के नभ पर उठने से
तृषित धरा का हर्षित होना
—स्वाभाविक है,
स्वागत में
कुछ धन्यवाद का
पुट भरना भी
—स्वाभाविक है।

मेघ मगर
केवल छाया का
सुख भर देकर
लौट क्षितिज की ओर जायें
धरती को तजकर,
धरती
लेकर ताप सूर्य का,
पवन-रन्ध्र में
गर्म उसाँसें
भर देती है,
निर्मित करती
चक्रवात में केन्द्र
शून्य का
भुतर्गो-सा
बादल को
जिसमें गिरना पड़ता
धरती का आवेशित होना
—स्वाभाविक है।

स्वाभाविक है नहीं
बादलो का छल करना
वर्षा का आमन्त्रण भर कर
नही बरसना,

धरती का चुपचाप सभी कुछ सहते जाना
बिलख-बिलख कर व्यथा-कथाएँ
कहते फिरना
—नादानी है।

छली, प्रपची, शोषक को
दण्डित करने में
हिचक दिखाना
निज सत्ता को भूल
कँहरना
रोना-गाना —नादानी है।

ज्वालामुखियो का मुँह खुलना
भूचालो से
गाँव नगर का मिट्टी मिलना
—स्वाभाविक है।

दमन-दलन की नीति
उसाँसो से
आहो से
ज्वालामुखियो के अन्तः को
बजनी करती,

रोज
भीतरी दाब
और ताकतवर होता।

फोड़ एक दिन सतह
दाव 'लावा' बन बहता
पी जाती यह लाल आग
सारी हरियाली।

मगर
ऊपरी हरियाली का
जल-जल जाना
—स्वाभाविक है।

झोंपड़ियों के
अट्टहास से
महलों के
कंगूरे गिरना
—स्वाभाविक है।

17.7.85

फिर ऐसा हुआ

मैंने
आम का एक पौधा लगाया।
उसकी जड़ों ने
मिट्टी में
जब अपने को फैलाया;
नयी डालों,
नये पत्तों से
पेड़ सजने लगा।

एक दिन,
जब मैं, उसे
सोच रहा था,

वह झुका,
मेरे कानों में फुसफुसाया
—'मैं तुम्हें
मीठे फल खिलाऊँगा।'

मैंने
एक गुलाब भी लगाया।
उसकी जड़ों पर
मिट्टी चढ़ायी।
पानी पटाया।

वह
तेज़ी से बढ़ने लगा।
और
एक जाड़े की भोर
अपने भीगे होंठ थिरकाते हुए उस
ने बताया—
'शाखों को फूलों से सजा
मैं तुम्हारा मन हर लूँगा।'

फिर ऐसा हुआ
कि, एक दिन मैं मर गया
उस दिन
आम का पेड़ उदास था
क्योंकि उस पर आ गये थे मंजर

और गुलाब भी
खूब रोया था
कि उसकी डाल पर
पहली बार
आँखें खोलने को थीं
कलियाँ।

मई, 82

देखभाल का भार

कितनी अजीब बात है
कि बाजारों में
जब तुम ख़रीदते होते
—कोई स्वेटर या शाल,
कोट या कम्बल,
तुम्हें याद तक नहीं आती—
कि ध्रुव प्रदेश भी है
यहीं
इसी भूमि पर
जहाँ बर्फ़ ही बर्फ़ है
और उस भयानक ठण्ड में
रहते कुछ लोग—
एस्कीमो।

बर्फ़ से बचने को
वे बनाते
बर्फ़ ही के घर : इग्लू।
विशाल सफ़ेद भालुओं से लड़ बच लेते
हड्डी के हथियारों पर
भरोसा कर।

उन्हें पता नहीं
कि उन्हीं की जाति
न्यूयार्क, मास्को,
लन्दन, पेरिस
और दिल्ली में बसती है।
और कितना आराम है
इन शहरों में,

जीने की कितनी सारी सुविधाएँ
जुटा ली हैं
मनुष्य जाति ने।

उन्हे कुछ नही मालूम।

और सच मे—
कितनी अजीब बात है
कि तुम्हे उनकी याद तक नही आती।

नही उमड़ता
तुम्हारे भीतर
उनके लिए प्रेम।

उनसे मिलने को
तुम कतई नही होते
—बेचैन।

मैं कहूँ, एक बात?
तुम हदें तोड डालो
मेड़ें हटाओ
सरहदो को दूर करो।

थोडा फैलो
हवा-से
प्रकाश-से हो लो।

सुदूर ध्रुव प्रदेश मे
लोग जो रहते हैं
सुना है
अतिथियों से
बड़े प्रेम से मिलते हैं।
कही जो तुम्हारा प्रश्न हुआ
'अमुक बच्चे का पिता कौन?'

उत्तर तुम्हे चौकायेगा
जल्दी तो
समझ मे नही आयेगा।
क्योकि
बच्चे का पिता
विनयपूर्वक बोलेगा
—'इसकी देखभाल का भार
मुझ पर है।'

31.12.83

एक को चुनना, क्यों ?

मैं चिड़ियो की बोली इकट्ठा करता
जैसे कुछ लोग इकट्ठा करते
उनके पर।
मैं उनकी बोली के समुद्र का
पहाड़ बनना चाहता
ताकि
ये बोलियाँ
आकाश के स्पर्श से
मुझे बचा सकें।

आकाश और समुद्र मे से
एक को चुनना
क्यो है जरूरी ?
नही जानता।

मैं चिड़ियो की बोली इकट्ठा करता
कुछ लोग इकट्ठा करते
उनके पर।

4.7.85

बचपन को भानेवाला

दुनिया बहुत सुन्दर थी
जब मैं बच्चा था।
समय-ही-समय था
खेलने को।
दोस्तों की
नहीं थी कमी।
वर्षा का पानी नहीं डराता था,
न तो गर्मी की धूप थी
सताती।

बीमार होने पर,
नहीं घेरता था मृत्यु का भय,
माँ-बाप की चिन्तातुर आँखों में झाँक,
कौतुक
जरूर होता था।

भागते समय के साथ
विकसित होती रही देह,
भावों,
संवेगों
और इच्छाओं की
जनमती रही नयी पौध
भीतर।
सघन होता रहा
वह जंगल।

जंगल में
होता था
कोई एक चबूतरा,
जो मेरे बचपन को
बहुत भाता था,

अकेले मे
कितने क्षण
वह वहाँ बिताता था!

छुपता गया वह चबूतरा
इर्द-गिर्द उगी लताओं से
वृक्षो से
झाड़ियों से।

उलझने लगा मैं
हरियाली से,
फूलों लदी डाली से।

और फिर एक दिन
पीली पड़ गयी हरियाली

सूख-सूख झ
ड़
गयी
लहलहाती पत्तियाँ।

काली, खुरदरी बाँहें प सा रे
बच गये
ठूँठ,
रस्सियों-सी
पत्रहीन बेलें।

यह पहली पतझड़ थी।

वसन्त फिर आया
नयी पत्तियों में
हरियाली का साम्राज्य
फिर छाया।
थका-सा गया हूँ
पतः ड-वसन्त भोग-भोग।

लाठी टेकता
आ रहा है कोई आदमी।
धीरे - धीरे।
टिकी है जिसकी दृष्टि
जगल के उसी कोने पर
जहाँ होता था कभी
वह चबूतरा
मेरे बचपन को भानेवाला!

जुलाई, 82

लौट जायेगा

जगल शहर आया है।

सुन नही सकते लोग
पत्तों को झमोड
बहती हुवा का संगीत
न तो देख सकते
उन्मादपूर्ण नृत्य।
अट्टहास जंगल का
लोगो को थर्राता है
कैद, बन्द पडे वे
घरो मे।

जंगल शहर आया है
लाया है नदियों का हास
पत्तों का विलास
लाया है !
शेरों की डोंक
फुदकन ख़रगोश की,
हिरण की तेज रफ़्तार साथ
लाया है !

जंगल शहर मे आया है
घबरा गया है शहर
थर-थर थराया है !
थक जायेगा जंगल साँझ तक,
कोलतारी सड़को पर
चलते - च ल ते ।

उदास हो जायेगा निर्जन नगर मे घूमते - घूमते ।

जंगल लौट जायेगा
हरियाली का दोना लिये हाथो मे,
मौन,
थका-थका
सर को झुकाये।
शहर से दूर,
दूर लोगों से
खेतों मे दूर
दूर गाँवो मे,
जंगल लौट जायेगा
लौट जायेगा जगल !

28.7.82

तुम होते हो

कुछ गाता मैं अपने कारण
कुछ के कारण तुम होते हो।
आँसू तो मेरे होते, पर,
—रोनेवाले तुम होते हो।

फसल काटने मैं जाता हूँ
पहले बीज तुम्ही बोते हो।
जो पाता मैं चीज अचानक
कभी उसे तुम ही खोते हो।

मैं,
सड़कों पर नजर गड़ाये
चलनेवाला
सुख-दुःख के बिछुआ-पायल को
चुननेवाला
धुननेवाला, सुननेवाला, गुननेवाला
—मैं होता हूँ
बिछुओं के, पायल के मालिक
—तुम होते हो।

उठते जो घनखण्ड
तुम्हारे भीतर नभ मे
या होते उड्डीन प्रभंजन
जो तव स्वर मे
मैं देता आधार
बरसने का
उन घन को।

और प्रभंजन को देता आकाश
कि खुलकर नाच सकें वे।

मुझमें वर्षा और प्रभंजन
भरनेवाले तुम होते हो।
मेरे कर में धनुष और शर
देनेवाले तुम होते हो।

मैं
केवल आकाश
खचित नक्षत्रों से तो
तुम करते हो।
मैं
केवल आकाश
धनुष सतरंगे बनकर
तुम उगते हो।

कुछ गाता
मैं अपने कारण
कुछ के कारण
तुम होते हो।

25.2.85

चिटकता हुआ ; शीशे का

अगरचे जरूरी हो गया है,
जला देना सब कुछ,
मैं
अपनी नदियाँ
रेत में छिपा लूंगा।

इन्सान राख पर नही जी सकता
और नदियाँ
राख को हरियाली मे बदलती हैं।
हरियाली मे बदलती हैं?
यानी, राख को
जीने के काबिल बनाती हैं।

मैं, तुम्हारे साथ गद्दारी नही करूँगा;
मैं अपने साथ गद्दारी नही करूँगा।
जरूर
मैं नदियो को छिपा लूँगा।
क्योंकि
राख नही,
तुम्हारी नियति है
—हरियाली।
मैं तुम्हे तुम्हारी नियति दूँगा!

ओह!
तुम अन्दाज़ नही कर सकते
उस गुदगुदी का,
जो उठा रहा है
भविष्य — मेरे भीतर!
और तुम,
अन्दाज़ नही कर सकते
मुझमे बहती पीडाओ का!
क्योकि तुम नही बन सकते
गर्म चाय पडने से
चिटकता हुआ,
शीशे का—गिलास!

22.2.84

एक सवाल पैदा होता है

कड़ी से कड़ी
मिहनत के एवज
भरपेट रोटी का पारिश्रमिक
वैसा बुरा नही;
बुरा है छिनना
श्रम-विमुक्त पलों की
स्वतन्त्रता।
बुरे हैं वे क्षण
उठाते नही बनता
जिनका बोझ,
बिताये नही बीतते जो···।

एक सवाल पैदा होता है
जब एक ही उम्र के
दो बच्चो मे से एक
रज़ाई मे दुबका
करता याद
स्कूल का पाठ
और दूसरा
फुटपाथ पर तापता
जलाकर—टायर
या
चाय की दूकान के बाहर जलते
चूल्हे के पास खड़ा
निहारता
चाय पीनेवालों के मुंह
—सुनता :
उनके दुक्ख़म-सुक्ख़म,

या—
गप्पें,
जो होनी चाहियें,
इस उम्र की आँख-कान
बचाकर।

एक सवाल पैदा होता है
जब कीमती कालीनों पर चलते
होती सकुचाहट
कुछ पाँवों को।

या,
दवाई ख़रीदने में अक्षम
कोई प्राण
निराशा में डूब
छोड़ता शरीर।

जब नये हाथ
कलम या तूलिका उठाने के बजाय
उठाते गँड़ासे
गोलियाँ और तमंचे।

जब कौमार्य और अस्मत
बोलियाँ लगवाने
चबूतरे पर खड़े होते।

एक भी सर
नहीं दीखता
झुका,
एक भी आँख
नहीं दीखती नम।

तब,
एक सवाल पैदा होता।

एक सवाल पैदा होगा
कि बड़ी
कड़ी मिहनत के बदले
छोटा पारिश्रमिक···
कहाँ तक सही
या गलत है?
आदमी के हाथ मे बन्दूक
आँखो मे खून
कहाँ तक सही
या ग़लत है?
अन्धे पाँवो तले
रौंद जाते
लॉन मे लगे फूल,
रौंदता डालिया
या गुलाब
रौंद जाती
हरी, प्यारी दूब।
तो
जिम्मेदारी किस पर?
उस पर
जो मात्र कुछ रोटी से
सन्तुष्ट हो जाता।
या, उस पर
जो रोटियो के बदले
ख़रीदता अस्मतें?

विनाश का जिम्मेदार कौन?
पहाड़ियो मे बसा वह गाँव
जिसके वाशे ने
रेलगाड़ी चढ़ना तो दूर
उसे देखा तक नही।

या वह
जो जम्बो जेटों मे
उड़ता फिरता ?

कही-न-कही
जमीन
पूरी-की-पूरी
जुड़ी है।
समुद्र सतह को भले काट सकें
निचले तल पर
धरती
मुसल्लम है।

सुविधाओं की ईजाद कोई करे
ईजादो पर
पूरी इन्सानियत का हक़ है।

मगर,
इन्सानो का वह टुकड़ा
जिसने अन्वेषक भुनाये है
ऐसा नही चाहता
ऐसा नही चाहेगा
—जबकि इन्सानो का एक बड़ा भाग
ज्यादतियाँ सहता आया है।

और यदि
यह सही है
कि काँटे से काँटा निकलता
तो युद्ध के अन्त को
पड़ेगा युद्ध मे उतरना
सहनेवाले लोगों को
अश्रुपूरित नयनो-साथ सही
होगा
हथियार उठाना।

बातें — ये आगाही हैं
और
सँभलने को तो
काफ़ी है
एक पल!

28.12.83

रास नहीं आता

मैं झाग हूँ झाग
पानी नहीं
न तो आग
मैं हूँ—सिर्फ़ झाग।

प्रमाण—
किसी उथल-पुथल का
पानी की बेचैनी का।

पंचनामा जो लिखता सूरज
किरनीले हाथों
रास नहीं आता
पानी को,
हवा के हाथों
मिटा देता।
धो दिया जाता
जैसे दाग़
मैं हूँ झाग
पानी नहीं
न तो आग!

19.7.84

ज़ख्म पर बेसाख़्ता उंगली

बात ही
दो टूक - सी करता

जिस कुहर में
ज़ख्म चाहे हो छिपा
उंगलियाँ
बेसाख़्ता जातीं
उधर ही।
तिलमिला उठते
सभी के प्राण
दर्द से खोजे
बहुत हैं त्राण
पोरों में बसा वह!
जी चुके हर दर्द को
बहुभाँति
अगणित वर्ष···
आँसुओं की झील,
सरिता—पी चुके।
पर,
प्रदाही दर्द की यह
शुष्क बेहद बाढ़
आज भी तो
झेलनी पड़ती।
वर्षगाँठें
ज़ख्म की
हर रोज़ पड़ती
आ रहीं।

रोज
उनके
जन्मदिन मनते
रोज मैं गढ़ता
नयी-सी
दर्द की…
ना!
जन्म की कविता।
बात कुछ
दो टूक-सी करता
और धरता
जख्म पर बेसाख्ता
उंगली!

15.4.85

कैसे बढ़ सकेगी, आगे?

कुछ लोगों को
कीचड़ से निकालने में जुटा एक हाथ
काट दिया गया,

त्राण की सम्भावना,
बन गयी,
ढलान पर लुढ़की गेंद।

संकल्प को डँस गया
क्षुद्र स्वार्थ—फिर!

पालकी ढोते कहार को मिली
मौत की बख्शीश!
कैसे बढ़ सकेगी
आजादी की सवारी—आगे?

31.10.84

सूरज का भी मिटता प्रमाण

तुम
कदम चार या पाँच
भले आगे रह लो
इस दूरी को
मानो चाहे जितना अनन्त,

छूने की कोशिश
—खेल बहुत ही मजेदार
हर सुबह
खिसक जाता थोड़ा
आगे दिगन्त।

आगे - पीछे
पीछे - आगे
चल रहे लोग
कुछ—थके-थके
कुछ—गिरे-गिरे
कुछ—तेज-तेज।

कुछ
लाशों से ही चिपक रहे
कुछ
लाशें रौंद बढ़े आगे
कुछ
लाश उठाये काँधों पर
प्राणों की सरिता खोज रहे

आगे-पीछे की बात नहीं
पहले-अन्तिम की नहीं बात

मतलब तो बस मकसद से है
जिसकी ख़ातिर चल रहे लोग।

जब दसो दिशाएँ खुली पड़ी
उत्तर-दक्षिण में क्या रक्खा?
क्या रक्खा ऊपर-नीचे में?
पूरब-पच्छिम में क्या रक्खा?

है हवा, महज कुछ मीलों तक
सूरज का भी मिटता प्रमाण
धरती की गोदी से बाहर
उड़ सकता है अपना विमान।
—पर अन्तरिक्ष का अन्त कहाँ?

दूरी,
नक्षत्रों की दुनिया
नक्षत्रों की इस दुनिया में
आगे-पीछे
चल रहे लोग।

20.10.85

आँधियाँ पीछे

गरुड़,
तौलता जब पाँखें
आकाश नहीं रहता सोया
खोलता वह आँखें
उड़ानें भरता
—आगे जाता गरुड़
आँधियाँ रह जातीं
हवा में
पीछे।

12.12.82

क़िस्सापसन्द डरता है

वह
जो क़िस्सागो हैं
डरने लगे नहीं
डरते ही आ रहे हैं
फ़क़ीरों से।

क्यों ?
फ़क़ीरों में ऐसा क्या है
जिससे डरा जाये ?
डरने-जैसी तो कोई बात ही नहीं
उनमें ?

क़िस्सागो
जानते बहुत
बखानते क्षण-क्षण
नहीं जानते पर
दुआ के लिए
उठाना, जोड़ना हाथ।

क़िस्सागो
दुआ करना
नहीं जानते
जबकि फ़कीर
आसमान की ओर हाथ उठा
कुछ बुदबुदा सकता,

और कोई सुने कि न सुने
समझे कि न समझे
हवा में कुछ हो जाता है…
कोई हलचल।

लहरें,
भले ही ऐसी क्षीण हों
कि किनारों तक
न पहुँच पायें।
पर,
झील के अन्दर का चाँद
तिलमिला,
तरमरा,
त्योरा—
हिल तो उठना है।
यह हार है।
हार
जिससे किस्सापसन्द
डरता है।
...इसीलिए
...किस्सागो
फ़क़ीरों से डरता है।

25.11.83

उड़ आ रे !

एक जोड़ी आँख। एक जोड़ी पाँख।
खुला आकाश। नीला आकाश।
"उड़ जा रे पंछी
उड़ जा।"
"खोल दे रे आँख। खोल ले रे पाँख।"
बोला आकाश, नीला आकाश।
"आ जा मेरे पास! आ जा मेरे पास!
उड़ आ रे पंछी
उड़ आ!"

1.8.82

दो आँखों में आन सिमटता

बहुत कठिन है हार!
लाख बुझाओ, लाख मनाओ,
मन को कब स्वीकार?
बुद्धि देखकर सुन्दर अवसर
भाँति-भाँति के तर्क जुटाकर
रच देती पटराग!

मुँह लटका कर
गाल फुला कर
बच्चों-सा हठ ठान,
मन विवेक को
कर देता लाचार।

बूढ़े बाबा, बड़के भैया
बहन, पिता या प्यारी मैया
पकड़ बटुक का हाथ
चल देते बाज़ार—
बहुत कठिन है हार
लाख बुझाओ, लाख मनाओ
मन को कब स्वीकार?

धन का घाटा पद भरता है
पद को छोटा यश करता है
दान
धनी को यश देता है।
त्याग बड़ा है,
सेवा उत्तम,
ऊँचा उठना—
करुणा के दम

अद्भुत्-सा व्यापार,
बहुत कठिन है हार!

लाख बुझाओ,   लाख मनाओ
मन को कब स्वीकार?

सबसे अच्छा   लड़ना-भिड़ना
सबसे अच्छा   मरना-कटना

कभी त्याग की खुशबू ले लो
दान   बेचकर महिमा पा लो
दखल और बेदखली में ही
जीवन दिया गुजार!
बहुत कठिन है हार!
लाख बुझाओ,   लाख मनाओ
मन को कब स्वीकार?

चस्का सुख का   पड़ जाता जब
ठहरा   पानी   रुक जाता जब
हवा
बोलने-सी लगती है।
मन   चिड़ियों-सा   उड़ने लगता
कभी मीन-सा   तिरने लगता
कभी गगन-सा   फैला - फैला
वही अमृत-सा   वही विषैला

दो आँखों में   आन सिमटता
विस्तृत सब   संसार
बहुत कठिन है   हार
लाख बुझाओ,   लाख मनाओ
मन को कब स्वीकार?

25.12.85

सुस्ता सके सौभाग्य

पत्थरो से रिश्तेदारी जोड़ो
तो कोहेनूर
एक पत्थर ठहरेगा।

इस पत्थर ने ली हैं
कितनी जानें।
कितनों का
बढ़ाया है रुत्बा!
मगर हिमालय-जैसा
कभी न हुआ।

हिमालय,
जिसके कन्धों पर
बैठने वाली चिड़िया
जब फैलाती पंख
खेतों पर
तो नाचने लगती
धान की हरियाली,
और नाद में मुँह डाल
सानी खाते बैल
लगने लगते
युद्ध से लौटे
विजयी सिपाही-जैसे।

हमे कोहेनूर नही
हिमालय चाहिए
जिसके पृथुल स्कन्ध पर
सुस्ता सके
हमारा सौभाग्य।

18.7.85

सूरज बिल्कुल नया सा

एक समय
ऐसा भी आयेगा
जब आदमी, आदमी का दोस्त होगा,
आश्चर्य के कारण बनेंगे
दुश्मनी पालनेवाले।

पेड़ की पत्ती तोड़ने के पूर्व
लोग लेंगे
उनकी रज़ामन्दी।
टपकायेंगे वृक्ष
ज़रूरतमन्दों की ज़रूरत भर फल
धन्यवाद करता
वृक्षों का
आदमी लौटेगा घर।

माँगने की ज़िल्लतें
और ग़रीबगी की जहमतें नहीं रहेंगी।

आकाश की तरह निर्बाध
और हवा की तरह सुलभ
होगा जीवन।

एक दिन ऐसा भी आयेगा।

अपने रोमांच
और अपनी पुलक का हवाला दे
मैं कह सकता
कि वह दिन आयेगा
और ज़रूर आयेगा।

समय के इस रेगिस्तानी दौर के बाद,
उसके खूनी दरियाओं के
पारवाला देश
एक दिन प्रकट होगा
जैसे खुलता या उगता है
कोई दिन।

उस दिन भी सूरज
पूर्व दिशा में ही उगेगा,
यही रहेगी धरती,
यही रहेगा आकाश,
सिर्फ आदमी
इस से उस करवट हो जायेगा।
जीवन का एक पन्ना
पलट जायेगा।
और हम देखेंगे
अगले
पन्ने-पन्ने पर खेलता
एक शिशु-अध्याय!

ओह! कितना कुछ
बदल जायेगा
कि सूरज लगने लगेगा
बिल्कुल नया-सा!
और आकाश
ज्यादा,
खूब ज्यादा खुला-सा।
एक समय ऐसा भी आयेगा।
एक समय ऐसा भी आयेगा!!

4.5.85

ज्यादतियों की उपज

आग्रह नहीं
निवेदन कर सकता हूं
बादशाह हो
बादशाहत, कैसे छीन सकता हूं?

नींद,
अच्छी चीज है
मगर नींद मे चलने का तो
इलाज होना चाहिए।
नींद मे चलना—
प्रमाण है
दिमाग़ के
ग़लत ढंग से
शरीर के इस्तेमाल का।
दिमाग को
ऐसा नटखट
नही होना चाहिए।
शरीर जब आराम मे हो
दिमाग़ को
ख़लल नही
डालना चाहिए।
बल्कि उसे करनी चाहिए
शरीर की पहरेदारी।
यह तो
किसी देश पर
दूसरे देश की चढ़ाई-जैसी
बात है।

यह तो
खेत किसी का
जोते कोई वाली बात है।
यह गलत है।

मगर मैं आग्रह नही
निवेदन कर सकता हूँ।

कुछ शरीर
दिमाग से बग़ावत कर देते।
पड़ते लाचार
अदावत ठान लेते।
कोई भी ठानेगा,
जिस पर भी पड़ेगी
बाज नही आयेगा।

बगावत तो
ज़्यादतियों की उपज है।
ज़्यादतियाँ हैं बीज
बगावत फसल है।

ज्यादतियों के
जो भी हों कारण
बगावत का एकमात्र कारण
ज़्यादतियाँ हैं।

मगर मैं आग्रह नही
निवेदन कर सकता हूँ।

छीलते जाओ प्याज की पर्तें
एक-एक कर।
मिटता जायेगा।
बेकार है,
वृक्ष के अन्दर वृक्ष की तलाश।

अन्दर वृक्ष है कि नही
कौन कहे?

कहते हैं—
एक प्रकार से—
दूध रक्त है।
किन्ही ग्रन्थियो का करिश्मा।
माँ पिलाती है रक्त
मगर, बच्चा दूध पीता है।

हरियाली को समझते हो
तो तनों को मुलायम करनेवाली सरसता को
तुरन्त पहचानना चाहिए।
नही रहे तुम
बच्चे अब,
ये बातें
तुम्हे जाननी चाहिएँ।

दस हज़ार वर्ष आयुवाले की
बच्चो-जैसी हरकत—
नही है शोभनीय।
बच्चो को मिलनेवाली छूट के लिए
बच्चा बने रहना
कैसी-कैसी तो...
हाँ,
अच्छी बात नही।

मगर तुम बादशाह हो
और मैं,
सिर्फ़ निवेदन कर सकता
तुम्हारी बादशाहत
कैसे छीन सकता?

2.5.85

निदानों का नाम देश

देश की नहीं
समस्या, मेरी अपनी है।
मेरी हर समस्या देश की है।

वह भी कोई देश है
जिसकी समस्याएँ
उसकी अपनी हों?
वे देश लुटेरे हैं
जो लोगों की समस्याएँ
छीन लेते है
और बुनते हैं चादर
समस्याओं की तानी-भरती से
उगाते हैं
चादरों मे
विपदाओं के फूल।
समस्याएँ
समस्याओं से मिल
ढूँढती निदान।
यानी वे चाहती
कुछ और जीना।

समस्याओं नहीं,
निदानों का नाम है देश।
अभी सारे देश
नक़ली हैं!

16.10.85

पाँव से उठ, माथे पर

मन,
रह पाता यदि
एक-सा
हवा
कभी शान्त
कभी तूफानी
नहीं होती।
आदमी
न तो जनमता
न मरता,
बचपन
जवानी
या बुढ़ापे में
कहीं,
ठहर जाता।
बन्द हो जाता
सूर्य का उगना-डूबना
बोलने-पतियाने की
कोई जरूरत न रहती।

मन,
एक जैसा नहीं रह पाता
और एक जैसा
नहीं रह पाता प्यार।
भटकता फिर रहा वह
कभी जंगल, कभी पहाड़।
कभी-कभी
आकाशगंगा तक।

सम्बन्धो मे
कोई खारापन है
समुद्री—
नही बुझ पाती
प्यार की प्यास।

यह प्यासा प्यार
भटक रहा
मेरी उगलियो
मेरे सपनो में
मेरे मन की दुर्गम पहाड़ियों मे
लगभग बेसहारा
बिल्कुल अकेला।

मैं
प्यार की छाँह हूँ
जहाँ-जहाँ है यह
वहाँ-वहाँ मैं हूँ।

और प्यार
प्यासा है।

मुझे
इसकी प्यास बुझाने को
कुछ करना चाहिए
इसके पाँव से उठ
इसके माथे पर
छाना चाहिए।

15.10.85

हठ ठान कर

जिन्दगी
झोंका हवा का,
खेत में भी
रेत में भी।

ढूंढती-सी
या कि अल्हड़,
बेवजह फिरती भटकती।

जिन्दगी
जैसे
हवा पर तैरते
बादल घनेरे
चाहतों की माँग पर
बरसें-न-बरसें
कौन टेरे!

जिन्दगी
दिन-रात का मेला
सुबह है
साँझ भी है।
कोख है सन्तानवाली
बाँझ भी है।

लाख चाहो
रेत पर गर्मी रहेगी
लाख चाहो
रेत पर वर्षा न होगी
बाँझ कोखें
लाख रोयें,
लाख तरसें
कोख में सन्तान की
हरकत न होगी।

ज़िन्दगी झोंका हवा का,
खेत में भी
रेत में भी।
पर,
धरित्री गर्भ में है
भाग्य सोता।
सदा सलिला
पुण्यतोया का
यहाँ श्रृंगार होता।

श्रम करो,
खोदो धरा को,
या—
भगीरथ की तरह
हठ ठानकर
गंगा उतारो।
आयु की छोटी सड़क को
और कुछ लम्बी बनाओ!

हिल गयी लौ

तराज़ू नहीं बातें करो निकुली की।
तौलने के काम में ज़रूरी है महीनी।
हिल गयी लौ ज़रा भी जो?
इनकार नहीं कर सकते
हवा की जुम्बिश का।

12.12.82

गाने लगता द्वीप

बातें
    छन्दों में भी
    उतनी हो सकती माकूल
दावा जितने का करते हैं
        अपर वर्ग के लोग।

मगर, कठिन है
    छन्द जगाना
        मन के भीतर।

क़लम बाँधना,
छींटे देना,
और ताकना राह—
    अँगड़ाई की—
जीवन जब जगता है—
पर्दे हिलने लगते जैसे
    दूर भविष्यत् के घर।

छिछली होकर नदी
    राह देने लगती—
        द्वीपों को।

पानी की पतली चादर से झाँक
    कुछ कहने को
        व्याकुल-से वे।

जिन्दगी झोंका हवा का,
खेत मे भी
रेत मे भी।
पर,
धरित्री गर्भ मे है
भाग्य सोता।
सदा सलिला
पुण्यतोया का
यहाँ शृंगार होता।

श्रम करो,
खोदो धरा को,
या—
भगीरथ की तरह
हठ ठानकर
गगा उतारो।
आयु की छोटी सड़क को
और कुछ लम्बी बनाओ!

हिल गयी लौ

तराजू नही बातें करो निकुती की।
तौलने के काम मे जरूरी है महीनी।
हिल गयी लौ जरा भी जो?
इनकार नही कर सकते
हवा की जुम्बिश का।

12.12.82

गाने लगता द्वीप

बातें
छन्दों में भी
उतनी हो सकती माकूल
दावा जितने का करते हैं
अपर वर्ग के लोग।

मगर, कठिन है
छन्द जगाना
मन के भीतर।

क़लम बाँधना,
छींटे देना,
और ताकना राह—
अँगड़ाई की—
जीवन जब जगता है—
पर्दे हिलने लगते जैसे
दूर भविष्यत् के घर।

छिछली होकर नदी
राह देने लगती—
द्वीपों को।

पानी की पतली चादर से झाँक
कुछ कहने को
व्याकुल-से वे।

लाद पीठ पर
जगल कासोंवाला
गुन-गुन गुन-गुन गाने लगता द्वीप
खरहों की फुदकन मे जैसे
जीने लगते स्वप्न।

बाँध झोपड़ी
इस निर्जन मे
रात बितानेवाले
साँपो औं' भल्लूको से
दिन-रात जूझनेवाले

जीवन की बहती बयार हैं।

24 12.85

थोड़ा-सा प्यार, बीज-सा

झाँकती है तस्वीर से
जंगल की गहराई
और याद आती हैं
तुम्हारी आँखें।
व्योमचारी चील-सी पुतलियाँ
घुल जानेवाली
अपनी गहनता मे।
इस अथाह मे रहता मैं
सिर्फ अपने लिए
छुआ जाता हुआ
तुम्हारी सघनता,
फैलाव से।

बाहर
हो रही वर्षा
बादलों के घटाटोप ने
आकाश को बन्दी बना लिया है
और
हवा पर लाद दी है
सर्दी,
जो,
पीट रही किवाड़
तावड़तोड़
पगली-सी !

पेड़ों तले खड़ी गायें,
सिकोड़े वदन,
कँपती।

मुझे चाहिये
थोड़ा-सा प्यार
न मोल
न उधार,
बीज-सा,
कि उग सके,
पक सके,
कट सके।

उदास है कोख
एक बच्चे के लिए
कोई स्तन
दूध पिलाने को—
व्याकुल।

15.4.84.

कुछ सूखे, कुछ बाढ़ें

कुछ धुआँ उठे
सिकती रोटी की गन्ध उड़े—
सोंधी-सोंधी।

दरवाजे पर
पाहुन बैठें
कुछ चुहल चले
या बातें हों—
बीते दिन की
आते दिन की
कुछ दुःख-सुख की।

फिर रात गिरे
फिर रात ढले
खोलें पोथी
दिन की पाती।

फिर दिन बीते
खेतों के संग
हल, खुरपी, वृषभ
बीज के संग।

फिर साँझ पड़े
फिर धुआँ उठे
सिकती रोटी की गन्ध उड़े।

इसमें ही कुछ सूखे झेले
इसमें ही कुछ बाढ़ें झेलीं

बचपन बीता
फिर युवाकाल
बेटी के पीले हुए हाथ।

कितनी फसलें डूबी,
सूखी,
कुछ खलिहानों तक भी पहुँची।

मेड़ो के मध्य घिरी धरती
क़िस्सा इसका
कब शेष हुआ
सब ठीक-ठाक
तब फ़सल मिली

वर्ना दरकी।
छाती दरकी।

कुछ घुआँ उठे
सिकती रोटी की गन्ध उड़े
सोंधी-सोंधी।

22.10.85

अचम्भा है

आसमान
कहीं ज्यादा, कहीं कम गहरा,
नहीं होता,
एक-सा है अनन्त।
दिशाहीन नहीं, समेटे सब दिशाएँ।
आसमान एक अचम्भा है!

9.12.82

यह भी ... वह भी

यह भी सच औ' वह भी सच तो झूठ कहाँ है?
हरे-भरे सब वृक्ष-विटप तो ठूंठ कहाँ है?

कत्रा-कत्रा, दरिया-दरिया,
शबनम-शबनम,
मोती-मोती
रात का आलम सोया-सोया
दिन का मुकद्दर
हलचल-हलचल।
यह भी सच...

बात पते की नहीं मिले जो,
राज का पर्दा नहीं खुले जो,
दामन-दामन, काँटा-काँटा।
गुलशन-गुलशन सहरा-सहरा

सुबह का मसला रंगी - रंगी
साँझ गिरे तो बड़ी कुढंगी।

मतला - मतला, बदला-बदला,
मिसरा- मिसरा, छूंछा - छूंछा।
यह भी सच...

सुबह का भूला, साँझ को लौटा
देर रात में काम से लौटा
काम से लौटा, लाम से लौटा
सूरज लौटा, चन्दा लौटा
आना सच, या जाना सच है?
यह भी सच...

8-1-84

भूले रहेंगे कब तक ?

मिलें जो कहीं कृष्ण
पूछूँ यह बात
याद है
कि भूले वे—
बाल-सखाओं का साथ ?

बाल-सखाओं का साथ
यानी, झुण्ड बाँध
जंगल में घूमना
हाँकते हुए
गौओं-बछड़ओं को,
करते कुलेल
साँझ गिरे
घर लौटना
गोपन मन्त्रणाएँ वे—
गोपिकाएँ खिझाने की,
मित्र की पीठ चढ़
दही-माखन खाने की।

पहचानेंगे वे क्या—
वो पीठ
जिस पर
पाँव धर
उठे थे,

खोली थी ज़ञ्जीर
खोला था कमरा
नवनीत चुरा
भाग खड़े हुए थे।

ज़रूरी है—
मिला जाये कृष्ण से
पूछी जाये बात
याद है
कि भूले वे
बाल-सखाओं का साथ?

लगता है
पुजेरियों ने
प्रारम्भ कर दिया है
करना घात!

प्रतिमा पर
जम चली
मिट्टी और राख।

पूछना होगा कृष्ण से
कि क्या उन्हें
पसन्द है यह सब?

भूले रहेंगे वे
मित्र पीठों को कब तक?

20.11.84

बर्फ़ीली कैद के दौर से

पानी की एक भी बूंद
जिसे स्वीकार लेती
नदी उसे
नही नकारती।

अपने एक-एक क़तरे की
नदी
बाजाप्ता इज्जत करती।

मगर, कभी-कभी
बूंदें
हैसियत लांघ जाती,
टूटती
नदी से
किनारो तक फांद पड़ती।

तब,
शुरू होती
एक लम्बी यात्रा
जिसमे बूंद को
बादलो तक उठना पड़ता
कुछ को
बर्फ़ीली कैद के दौर से
गुजरना पड़ता।

24.4.85

बस, हुक्म की तामील

कोई कहे
कि तू पहाड़ चढ़ जा
तो यह
कोई कहना नहीं हुआ।

कोई मुझसे कहे
कि चढ़ जा पहाड़,
वहाँ किला है,
किले में राजमहल है;
राजमहल में सुख है।
फिर, सुख में क्या है?

—और,
जब सुख में कुछ है ही नहीं
फिर उसे पाने में क्या है?

पहाड़,
किला,
राजमहल,
और सुख हैं
तो जाना चाहिए।
किसी को जाना ही चाहिए।

मगर मेरा सवाल
दुखों का वफ़ादार है,
वह
सुख के हर राही को
बरगलायेगा।

पूछो मत क्यों?
पूछो मत क्या?
बस,
हुक्म की तामील करो।

1.11.85

इस मिलन-स्थल पर

अलग-अलग हैं
तुम्हारी और मेरी राहें।
मगर,
काफ़ी है क्या,
इतनी-सी बात,
कि, हो जायें हम
एक-दूसरे के दुश्मन?

इस भरी, दहकती दोपहरी में,
वट-वृक्ष की इस ठंडी छाँह तले
आओ! हम बैठें
कुछ बात करें।
सुनायें अपनी-अपनी कहानियाँ
ताजा उन्हें
कर लें।
हँसें, हँसायें,
अपनी मूर्खताओं की कथाओं से
खुद का, और दूसरे का
जी बहलायें।

इस चौबटिया से
चारो दिशाओ को जाती हैं राहे,

दो की जानकारियाँ   हासिल
हम दोनों को
बाकी दो पर हम चल लें।

बात अगर बन जाये किसी तरह
किसी एक पर बढ़ें
संग हो लें।

क्या हुआ जो राहें अलग हैं?

इस मिलन-स्थल पर
जी भर कर
आओ! हम
एक दूसरे का स्वागत करें
सत्कार करें।

जून, 82

खड़े होने को

यह सोच
बनना चाहते थे जो
मेरे पाँव—
खफ़ा हो गये।
क्योंकि
मैं चल सकता था।
और
मेरे हाथ बनने के इच्छुक
रूठ गये
क्योंकि हाथ
मेरे पास अपने थे   सक्रिय!

न केवल रश्मियां
खूबी सजा सकते थे
आरती की थाली,
बाल सकते थे दीप,
अँजुरी भर फूल
कर सकते थे समर्पित।

बड़ी उत्सुकता थी लोगों में,
बनने को तत्पर थे सब—
मेरी आँखें,
मगर देखकर प्रतिबिम्बित,
स्वयं को;
मेरी पुतलियों में,
झुक आयीं
उनकी गर्दनें!

तब फिर
असंख्य लोग मेरे सामने खड़े थे
इन्हें चाहिये थीं : आँखें
इन्हें चाहिये थे : हाथ,
चाहिये थे : पाँव।

तब,
मुझे बनना पड़ा आकाश
कि वह मुझमें समा सकें।

मुझे बनना पड़ा हवा
ताकि मैं उनका स्पर्श कर सकूँ।
मुझे बनना पड़ा धरती
ताकि
खड़े होने को
उन्हें मिल सके जमीन।

2.5.83

असलियत के आकाश पर

ज़ुबानें हो गयी हैं—
कुर्सियों को,
खाटों को।

दफ्तरों
और सोने के कमरों में—
होती हैं,
मेरी चर्चाएँ,
तोहमतें,
व्याख्याएँ!

होटलों में,
चायघरों में बैठे लोग
किस ज़ख्म को छुपाने को,
किस टीस का असर भुलाने को,
मेरी चर्चाएँ करते हैं?

हर कोई,
ईसा या बुद्ध नहीं होता।

ज़ेहन की दीवार पर,
तस्वीर की क़तारों में,
इनके साथ,
जिसे चाहो—बिठा लो;

असलियत के आकाश पर
हर किसी को
तारों की हैसियत से
नहीं टाँक सकते।

6.8.82

कुतूहलवश भर लेते घावों से

कुछ ही लोग होते
जो सह सकते
तुम्हारी समृद्धि।
वह भी
महज इसलिए कि
कहीं उसे भोग सकते।

वर्ना, गाँठ बाँध लो,
समृद्धि
सदा जलाती है
पर को, अपर को।

इसी कारण, समझदारों ने
बतायी है राह
सादगी की।
मगर, क्षमा करें पक्षधर,
सिद्धान्त यह
पाखंड भर !
ऐसे लोगों के
दो ही अन्त हैं,
या तो वह करें आत्महत्या,
या फिर अपराध के
भारी विस्फोट को
रहें तैयार।

समृद्धि के विलोम में जो जीते
भूखे शेरों को
समृद्धि का रक्त चाहिए।

मगर, समृद्धि का रक्त
असर नही खोता,
शेर बन जाते
सुकोमल ख़रगोश
एक दिन।
समृद्धि की गोद
ऐसी ही होती।

दरअसल,
समृद्धि है
जीवन की सुविधाओं का
प्राचुर्य।
और आदमी
सुविधाओं का खोजी है।
कौतुकप्रेमी भी।
कुतूहलवश ही
भर लेता वह
घावों से
ख़ुद को!

प्रश्न नहीं छोड़ता साथ

सिपाहियों को मालूम नही रहता
कि युद्ध के तुरन्त बाद
बेल दिये जायेंगे वे
रोटियों मे।
उनकी जरूरत
रह जायेगी लिपटी
शर्मों मे
जब किसी हत फौजी के शौर्य की गवाही देने

उन्हें बुलाया जायेगा
नागरिक सभा
या अभिनन्दन में
जहाँ ऊब भरे कानों से जुड़ी आँखें
—पुरुषों की
टटोलती फिरेंगी—
औरतों के जिस्म।

और स्त्री आँखें
तौलती फिरेंगी
झुमके,
वालियाँ,
स्वर्ण-जंजीरें।

ठेठाती रहेगी
उनकी दिमागी छतों को
विचारों की बूँदें,
उगता-डूबता रहेगा
कामनाओं
योजनाओं का
इन्द्रधनुष।

और लहू की नदी तैर
वापस एक इन्सान
खुश-खुश
लौटेगा घर
हाथ में लिये फूलमाला,
कोई ताम्र-पत्र
या एक टुकड़ा
कागज़ का।
हर जिस्म के बोझ तले
कराहता रहेगा

एक बूढ़ा,
चिरपिपासु सवाल—
जिसकी प्यास,
बुझा नही पायी—
लहू की कोई भी नदी।

हर युद्ध के पूर्व
वह पकड़ता हमारे हाथ,
करता मिन्नतें :
तलवारों को वापस
म्यानों मे डाल लेने की।

मगर,
युद्धक्षेत्र की ओर दौड़ पड़ने को
उदग्र-आतुर अश्वों की टापों में
डूब जाती
उसकी आवाज।

प्रश्न
नही छोडता—साथ।

युद्धभूमि से जब लौटते हम
क्षत-विक्षत औ' क्लान्त
आँसुओं के अर्क से
व्रणो को पोंछता
जैसे
हम हों
उसकी सन्तान।

8.3.84

नयी दुनिया ईजाद करें

सबसे अच्छा तरीका
भूलना नहीं—
याद देना है
खासकर
जब चीज़ें
सही रास्ते लगने को
उत्सुक हों।

कोई गिलास लुढ़क जाये
तो उसे सीधा कर रखने में
कोई अड़चन नहीं।
मगर, आहत अभिमान
आदमी को
गिलास में
ढलने नहीं देता।

इतिहास
घाव भरने के अवसर
नहीं देता।

हमारी पीठ पर
बिच्छुओं भरा झोला है,
और बिच्छू
डंक मारने से
बाज नहीं आते।

और हम,
झोला फेंक नहीं सकते;
क्योंकि झोलों में पड़े हैं
कई नक्शे।
जो, कुछ स्वप्नों ने
हमें दिये हैं।

इन नक़्शों से उठकर,
कोई हाथ,
हमारी पीठ सहलाता है;
और, छूमन्तर हो जाती जलन,
छूमन्तर हो जाता दर्द।

ज़िन्दगी—
नाम है,
दर्द और जलन की
उठती-गिरती तरंगों का।
मगर,
वह क्या करे
जिसकी तरंग उठना तो जानती है
गिरना नहीं जानती।

तरंग गिरने की
राह देखते-देखते
डूब जाता
जिसका दिन।

उसके लिए
क्या यह सही नहीं,
कि वह उतार फेंके,
पीठ पर लदा झोला?
और,
मतलबों की कोई
नयी दुनिया
ईजाद करे?

24.11.85

पथप्रदर्शक पाँव में ज्यों शूल

प्रश्न टेढ़े पूछना अच्छा नही
डालकर आँखें किसी की आँख में।

व्यर्थ क्यों खौलाइयेगा खून ?
व्यर्थ क्यों लज्जित किसी को कीजिये ?

काम हर के पास कितने ढेर से
क्यों किसी के बोझ में
कुछ जोड़िये ?

हाँफता हर एक है दिखता यहाँ
चाबुकें फटकारिये, अच्छा नही।

चूस सकते हैं नही जो दर्द
छूइये तो मत—
कृपा कर घाव !

देखते हैं क्यों
गँधाते और गलते अंग ?
चोट करने मे
नही हैं दृष्टियाँ कुछ कम !

प्रश्न
आँखों से निकलते
तीर से
वेध देते प्राण
कि जैसे
काँपने लग जाये
कोई झोंपड़ी
तेज बहते
वायु के संघात से।

आँधियों में लड़खड़ाते पाँव
ज़िन्दगी खुद को चढ़ाती दाँव—
हारती हर बार।
हर दफ़ा ही
टूटते कुछ स्वप्न।
हर दफ़ा
कुछ
सूर्य-सा उगता,
आइने में
बाल पड़ जाता
स्याह पड़ जाता दमकता रोशनी का मुख!

झोंपड़ियों पर शहर की
ज्यों धूल पड़ जाये
पथप्रदर्शक पाँव में
ज्यों शूल चुभ जाये!

23.12.85

किसी अन्धे विवर में एक दुनिया

सृजन की आग में कुछ चाहिए
सूखी हुई समिधा।
पवन को छोड़कर आलस,
कदम कुछ तेज धरना है।
हवा की चाल में अन्तर,
नहीं कुछ बात बढ़गी।
सही है आग का जलना,
सही है आग का बुझना।

मगर, सूरज नहीं स्वच्छन्द
अपनी राह तजने को
कि मन के लघु इशारे पर
किसी दिन रोक ले उगना,
कि पत्थर पर पड़े पत्थर
बिना चिनगारियाँ छिटके !

विपुल परिवर्तनों के बीच
कोई चीज खोयी-सी,
तुमुल रव मध्य कोई आँख
रहती बन्द सोयी-सी ।

नहीं तो जन्म का उत्सव
नहीं तो मृत्यु का क्रन्दन
जगा पाती ।

उधर
रुकता नहीं पल भर
समय भागा चला जाता ।

बिकस कर टूटते नाभिक
नया उत्तक जनम आता ।
किसी अन्धे विवर में
एक दुनिया मौन हो जाती ।
किसी "बिग बैंग" से
प्रारम्भ होता फिर
नया किस्सा ।

कि कोई कार्ल सागाँ
भौम पर आवास की कहता
किसी फ्रेड हॉयल को
हिमयुग निकट आता हुआ दिखता ।

मगर रीगन
गुलामों के गले की फाँस
कसते हैं
कहे क्या ?
मारग्रेट थैचर
मुहैया जगह करती हैं
कि जो आधार होगा
एक दिन
नक्षत्र-युद्धों का।

नहीं
इस शोर पर भी
वन्द सोयी आँख
खुलती है।

किरण के फूल
खिलकर
बिखर जाते—
क्षुब्ध !
भर्जिघ्रित !

24.12.85

मत पूछो

सूर्य के जन्म पर जनमा
स्वागत हूँ
रूप-रस-गन्धपूर्ण एक आगत हूँ
दो स्वरों बीच ठहरा मौन
मत पूछो मैं हूँ कौन !

9.12.82

पोली पड़ती जा रही आदमियत

अभी हाल तक
तूंबी लगाने का
रिवाज था।

तूंबी लगाना
यानी, जहरीले लहू—या दूषित वायु को
शरीर से निकाल फेंकना
स्वास्थ्य के लिए
जरूरी समझा जाता था।

अगर
आदमी को
आदमियत का लहू समझो
तो समझ सकते
आदमियत की रगों में बह रहा है
विषैला रक्त
जिसे शरीर से बाहर
निकाल दिया जाना चाहिए।

मगर,
आदमियत के डॉक्टर
इसकी अनुमति नहीं देते
मेरी समझ में नहीं आता
वे ऐसा क्यों कहते।
कौन-सी दवा है उनके पास
जिससे
वे शोध सकेंगे रक्त?

किस रसायन से
वे बनायेंगे
जहर का नमक
और फेंक देंगे बाहर
उत्सर्जनों की राह?
कैसे?
और कब?
जबकि
स्वस्थ रक्ताणुओं पर
रोज ही हो रहे हमले
रोज ही उन्हें बनाया जा रहा कमजोर
पीली पड़ती जा रही आदमियत
रोज-ब-रोज।

16.10.85

क्यों उन्हें मारे डालते?

बाज चीजें
बहुत नाजुक होती हैं,
उन्हें
बारीकी से न छुआ जाये, तो
टूट जाती हैं।
और कुछ चीजें तो ऐसी हैं
जिन्हें छुआ ही नहीं जा सकता
उन्हें तो बस
देखा या सुना जा सकता है।

ऐसी चीजों को हाथ क्यों लगाते हो?
असमय ही क्यों उन्हें मारे डालते हो?

जून, 82

हाथ में जनमी सुगन्ध

क़लम पकड़े
मेरे इस हाथ मे
समा गयी है
गुलाब की सुगन्ध
जिसने
मुझे
चारों ओर से घेर लिया है
जैसे
हल्दीघाटी और पुष्कर के बग़ीचों से
—गुलाब के बग़ीचों से उठ
समा जाती
हवाओ मे
सुगन्ध
और धरती को लपेट लेती।

तुम तक क्या
मेरे हाथ मे जनमी
यह सुगन्ध
पहुँच जाती है?

कलम और शब्दो के घेरे को
क्या यह
तोड पाती है?

जुलाई, 82

किस रसायन से
वे बनायेंगे
ज़हर का नमक
और फेंक देंगे बाहर
उत्सर्जनों की राह?
कैसे?
और कब?
जबकि
स्वस्थ रक्ताणुओं पर
रोज़ ही हो रहे हमले
रोज़ ही उन्हें बनाया जा रहा कमज़ोर
पीली पड़ती जा रही आदमियत
रोज़-ब-रोज़।

16.10.85

क्यों उन्हें मारे डालते?

बाज़ चीज़ें
बहुत नाज़ुक होती हैं,
उन्हें
बारीकी से न छुआ जाये, तो
टूट जाती हैं।
और कुछ चीज़ें तो ऐसी हैं
जिन्हें छुआ ही नहीं जा सकता
उन्हें तो बस
देखा या सुना जा सकता है।

ऐसी चीज़ों को हाथ क्यों लगाते हो?
असमय ही क्यों उन्हें मारे डालते हो?

जून, 82

हाथ में जनमी सुगन्ध

क़लम पकड़े
मेरे इस हाथ मे
समा गयी है
गुलाब की सुगन्ध
जिसने
मुझे
चारो ओर से घेर लिया है
जैसे
हल्दीघाटी और पुष्कर के बाग़ीचों से
—गुलाब के बागीचों से उठ
समा जाती
हवाओ मे
सुगन्ध
और धरती को लपेट लेती।

तुम तक क्या
मेरे हाथ मे जनमी
यह सुगन्ध
पहुँच जाती है?

कलम और शब्दो के घेरे को
क्या यह
तोड़ पाती है?

जुलाई, 82

घुला दो लाल पानी में

जोहान्सबर्ग !
जोहान्सबर्ग !!
मालूम है तुम्हें ?
जानते हो तुम ?
इन काली पहाड़ियों पर
कहाँ से उग आये
—सफ़ेद दाग़ ?

काली पहाड़ियों पर
चढ़ती जब
मेरी दृष्टि
सफेद दाग़ों की बगल से गुजरते
टू ट ता
उसका संगीत।
अच्छे नहीं लगते ये मुझे।

जोहान्सबर्ग !
पहाड़ पर पड़े इन दाग़ों को मिटाओ
या चढ़ाओ
पहाड़ का रंग
इन पर।

ये सफेद अगारे
पहाड़ों को कभी
ओस से नहाने नही देंगे।
उत्तप्त शिलाखडो तक
तितलियों को
आने नही देंगे।

न तो इसकी छाँह तले
लगेंगे
मधुमक्खियो के छत्ते।

जोहान्सबर्ग,
जोहान्सबर्ग,
घुला दो इन्हे
लाल पानी मे!
जल्दी मिटाओ ये धब्बे।

5 9·85

नीला होता ही

कोई अर्थ नही
प्रहारो का
आसमान
नीला होता ही है!

29.11.85

कहाँ आया हमें

तकलीफों का क्या?
खींच लीजिये भूखवाली ज़मीन
किसी और पर खड़ी हो जाती।

फिर भी, खिसकायी जानी चाहिए
यह ज़मीन।
खड़ी होने के लिए
ज़िन्दगी को—
चाहिए ही
कोई और
माकूल-सी ज़मीन।
फैला सके जहाँ वह
अपनी जड़ें
और गुदगुदा सके उसे,
—हरियाली से—
जिस हवा में ले साँस।

हो सकता है
खून-पसीना एक करना पड़े,
और, सींचना पड़े इसे
खून से,
ज़िन्दगी बोने के पहले।

जो भी हो
मोल
चुकाना तो पड़ेगा
चुकाना ही पड़ता है।

दुनिया देखनी हो
तो जागना ही पड़ता है।
दुनिया दिखने का मतलब
सपनों का साथ छूटना
और टूटना
बाँध रखनेवाले भ्रमों का।

भ्रम जो है—
भूख के साथ समझौता
एक क्रम है
अच्छी-बुरी परम्पराओं के जीने का।
मात्र उस आदमी की यादगार
जिसे आग जलाना
नहीं आता था।

भागता था
जो अपने-जैसे दूसरों से
कमज़ोरों पर
टूट-टूट पड़ता था।
जब आदमी को
आदमी पर
भरोसा करना
नहीं आता था।

झेलता था सारे दुःख—अकेले
समूह में रहना
नहीं जानता था।

कहाँ आ पाया हमें आज भी
समूह में रहना ?
आकाशगंगाओं के संग की चर्चा क्या ?

एक पेड काटने तक मे तो
हम नही लजाते
एक बार भी तो
जंगलो से
खाली हाथ
नही लौट पाते!
हर लौटती बार
हमारे पीछे होती
एक वृक्ष की लाश!

क्यों हमारे पीछे एक लाश होती
और आगे होता
घुप्प अँधेरा
भूख की जमीन पर उगनेवाला?
यह अँधेरा
गला घोटता
बुनियादी सवालो का
औ' उजड जाती
जिन्दगी की गोद।

क्या तुमने देखी हैं
वह माँएँ
जो निस्सन्तान हो गयी?
माँएँ कभी उदास न हो
यदि जनन की जवाबदेही से
छूट सकें।

मगर, कहाँ आ पाया हमे
समूह मे जीना?
अपना बच्चा
वही भर
जो जाया हो अपना!

24.11.85

तेजाब जला देता

हम पहली ही बार
अपने को उँडेलना
नहीं जानते।
या, कृपणतावश
बचा लेना चाहते—
खुद को।

चाहे जो भी हो—
हम कभी अपने को
पूरा-का-पूरा
नहीं परोसते।
कान दिया
तो आँख बचा लेते।
दिल दिया
तो भाव छुपा रखते।
गरज यह
कि हम कुछ-न-कुछ
बचा रखते।
वह
जो हमारे भीतर बच जाता
धीरे-धीरे सड़ने लगता।
हमारा मनाकाश
बादलों से भरने लगता।

और हम जब भी बरसते
धरती के तालाब
बिलबिला उठते
क्योंकि
तेजाब
जला देता है।

जुलाई, 82

कट-कटकर बिकते देखा

गवाह, दोस्त, है—
खाली मटका—
कुछ भी से भरने को राजी।
यद्यपि,
मटके का ख़ालीपन
ख़तरनाक है,
ज्यादा ख़तरनाक है
उसका भरना।

मैंने अमूमन इसे
सच्चाई के लहू से भरते
देखा है
और जिसे किताबों मे
ईमान कहते हैं
उसे
बकरे के मांस की तरह
कट-कट कर
बिकते देखा है।

रान,
छाती,
मूड़ा…
सबके अन्त मे बिकते—
मुहब्बत और साहस के घर—
जिगर-कलेजा,
दिल
और गुर्दे!

16.12.85

अनजानी बस्ती मे कोई

पता-ठिकाना लिये बिना ही   कूच कर गये हम।
पता-ठिकाना दिये बिना ही   कूच कर गये हम।

अनजानी बस्ती मिलती है
बस्ती पर बस्ती मिलती है

वही चीज महँगी मिलती है
वही चीज सस्ती मिलती है

भेड़ो की पंगत मिलती है
शेरों की गश्ती मिलती है।

कही परिन्दे   कही   दरिन्दे
कही आम   तो कही चुनिन्दे

हिम्मत औ' पस्ती मिलती है
अनजानी बस्ती मिलती है।

गारद कही;   कही झोंपडियाँ
नारद कही;   कही अप्सरियाँ

कही नशे मे झूमे कोई
कही भूख से रोये कोई।

तरु की छाँह अचम्भे मे है,
अक्ल बन्द किस डब्बे मे है?

मिलती नदी
नही कश्ती है
अनजानी बस्ती मिलती है।

सकता लगता,   कौतुक मिलता,
कहीं विदूषक,   कहीं प्रदूषक
शोषित मिलता   शोषक मिलता
कही प्रवंचित   कही प्रवंचक

मस्त बहुत   तो मिल जाते है
एक नही   मस्ती मिलती है।

अनजानी बस्ती मे कोई
ठौर नही कर पाये हम

पता-ठिकाना लिये बिना ही   कूच कर गये हम।
पता-ठिकाना दिये बिना ही   कूच कर गये हम।

21.11.84

आदमी : गौरैयों की तरफ

आकाश मे उडती चील
सुन्दर तो लगती
मगर
इससे
चील की हिंसा
कम नही होती।

गौरैये की जान बचाने को
चील के साथ
सख्ती बरतनी पड़ेगी।

क्या होगा
अगर कोई पक्षी
आसमान मे
उतना ऊँचा
उतनी देर तक उड़ना
नही छोड़ेगा?

आकाश
इतना घबड़ा थोडे ही जायेगा,
कि छूट जायेंगे बादल
उसके हाथो से;
न तो
उसके अँकवार से
निकल भागेगी—हवा।

उसकी नीली आँखों में
खून नही उतर आयेगा।
न तो दहशत या वियोग से
वह पड़ेगा सफेद
या पीला।

चीलों की बनिस्बत
गौरैये
हमारे ज्यादा करीब हैं।

सिर्फ़ थोडे नासमझ
कि आइने मे उगे अपने प्रतिबिम्ब को
समझते दुश्मन!
जब
हम नही रहते कमरो मे
रहती गौरैया
ची-ची करती
आइने पर
चोच पटकती।

हमारे
कमरे बन्द करने के काफी पहले—
दीवार पर टँगी तस्वीरों के पीछे बने
अपने घोंसलों मे
छुप जाती

और सुबह
किवाड़ खुलने के साथ
निकल भागतीं
खाना जुटाने के काम पर।

गौरैये
हमारे सब करीब हैं।
चील और उनके बीच
चुनने की समस्या
जब भी उठे
आदमी को
गौरैयों की तरफ
हो जाना चाहिए।

उनके साथ धोका करना
गुनाह के निकट होना है।
और उनके पक्ष में होना
देश के लिए
हथियार उठाने-जैसा!

11.9.84

बगल में खड़ा नहीं दोस्त

समुद्र से,
जब भी ले लो,
वह देगा अपना ही पानी।

गंगा,
वोल्गा,
आमेज़न का नहीं,
सिर्फ़ अपना पानी।

समुद्र पानी दे सकता
नदियाँ नहीं।

आदमी के अन्दर
जब समुद्र तैयार हो जाता
उसकी भाषा में
बादलपन आने को
कौन रोक सकता?
कैसे रोक सकता है?

जिन्हें नहीं पसन्द होंगे बादल,
वे समुद्र के दोस्त
नहीं बन सकते।

और दोस्त
सिर्फ़ वही नहीं हो सकता,
जो बगल में खड़ा है।

क्योंकि पहाड़,
समुद्र से बहुत दूर होते हुए भी,
उसके दोस्त हैं।

जिन पर विश्वास कर
समुद्र छोड़ देता
उनके पास
पानी का ख़ज़ाना।

5.12.85

पसन्द करते पथरीली राह

गोताख़ोर
नहीं मारे अगर
—गोता
कैसे बन पाये
समुद्र तल से
हमारा संवाद ?

और समुद्र में बसती—
व्हेलें
शार्क,
बसता ऑक्टोपस।

वे
आदमी को नहीं पहचानते।
भोजन तलाशती उनकी आँखें
आदमी में
भोजन के सिवा
कुछ और नहीं देख सकती।

इन तूफानों से गुजर
समुद्रतल तक पहुँचना
कितना कठिन है !

मगर,
जुझारू लोग
पसन्द करते
पथरीली राह।

बेहतर समझते वे
बनना
भविष्य का हरकारा।

अन्तरिक्ष से समेट लाते
सूर्य की कुछ किरणें
जैसे,
कटी फसल को समेट
बोझे बनाते—
मजदूर।

13.3.84

एक नन्हें फूल को भी चाहिए

मित्र मेरे बन सकोगे क्या?

पल सकोगे छाँह में क्या
एक-दूजे की?

ताप भी क्या,
सह सकोगे?

स्वाद मुँह का
बिगड़ भी सकता,
लेखनी की नोक पर
जम जाये ज्यों कचरा
फेंक ही दोगे उसे क्या?

क़लम
लिखने से कभी
मजबूर हो सकती,

कवि निचट सकता
कि जैसे ग्रीष्म का हो कूप,

पर,
तरंगों से भरा सागर रहेगा
बादलों की राह
कूपों पर झरेगा।

मित्रता,
जैसे कि अक्षर—
अर्थ के सर्जक।

वाक्य छोड़ो
शब्द के भी मूल में आओ
ध्वनि-सरोवर में
कमल के फूल बन जागो

मित्रता,
जैसे सरोवर
शान्त, सुस्थिर, मौन
अतल तल से उग रहा है
यह सुमन बन कौन ?

है नहीं पर्याप्त
केवल मौन
केवल ताल
चाहिए आकाश भी तो
सुमन जिस पर लिख सके
निज हास !

चाहिए बहती हवा जो ढो सके
गन्ध का संगीत,
सात रंगों मे बिखर जाये
किरण वह!

एक नन्हें फूल को भी चाहिए—
एक पूरा विश्व!

दे सकोगे क्या
निखिल ब्रह्माण्ड—
एक नन्हें पुष्प को?

मित्र मेरे बन सकोगे क्या?

पल सकोगे छाँह में क्या,
एक-दूजे की?

ताप भी क्या,
सह सकोगे?

30.12.85

सेना नहीं, तो फिर

कहते हैं :
कोयल अपने अण्डे नही सेती।
अण्डे वह
कौओं के घोंसलो में धर देती।

कोयल नही सेती अण्डे
उसकी मर्जी;
सेना नहो, तो फिर···
अण्डे वह क्यों देती?

...अँधेरों पर

एक किरण काफ़ी है
अँधेरे दूर रखने को।

आदमी सीख ले अगर
हँसना,
मुस्कान
आंसुओं में भी तैर सकती है।
एक किरण काफ़ी है
पराजय लादने को
अँधेरों पर।
पाँव बढ़ाये तो आदमी;
दूरियाँ सर झुकायेंगी।

20.8.82

तमाशा होगा

आसमान पर
लिखा है नाम अपना
हवाओं में घोला है संगीत।
सूरज जब गुज़रेगा इस राह
तमाशा होगा!

9.12.82

□□इत्यलम्।

'प्रथम पाठक' होने का अवसर कैसे, इसकी विचिकित्सा अनावश्यक ।

निष्पक्ष, निराग्रह, सही-सही और ठीक-ठीक यदि बताया जा सके कि (i) कविताओं ने कैसे आकृष्ट किया हमें, (ii) रसास्वादन कैसे हुआ, (iii) कैसे बना हमारे अन्दर उनके लिए अवकाश, (iv) सब दिशाओं में बहती संचेतना की धारा कैसे मुड़ पायी इन कविताओं की ओर, (v) कैसे हममें प्रवेश कर हमारे मानसिक-व्यक्तित्व में घुल-पच, आत्मसात् हुई यह ··· तो, एक प्रकार से, निभ जाये हमारा दायित्व ! वैसा होता, मेरे देखने में आज तक आया नही ।

अधिकतर तो ऐसी पाठकीय गवाहियाँ कवि-प्रवंचना के लिए होती हैं, दिखावा होता है अन्य बहुतेरे पाठक मुग्ध करने का। पर कौन भला, किसे मोह पाया है ? जो मोहता और जो मोहा जाता, दोनों के मोहने-मोहाने के अपने-अपने कारण होते हैं ।



कविता : एक कंकरी । किसी खिलण्डरे बच्चे द्वारा फेंकी । निस्तब्ध पड़ी झील में छलांग मारती 'गुड़ुप !' कंकरी धरती अपना तल। उसकी 'गुड़ुप' उठा देती लहरें और प्रतिध्वनियाँ, दोनो ! लहरें जो फैलती बड़े, और बड़े दायरों में। चल पड़ता एक चक्र-सा प्रकम्पन-विकम्पनमय !

विवेक-बुद्धि वेचारी मुग्ध-जड़ रह जाती । कविताएँ गहरे तल पैठ संस्कारित (conditioned) करने लगती हमें । तब पता चलता कि हमारी एक भूख थी। एक माँग उठ रही थी, वेपहचानी, आन्तरिक। कविता उसे पूरा करती। यदि कविता कोई 'वस्तु' है तो ऐसा ही होना चाहिए।

बेस्ट-सेलर्ज़ (bestsellers) के रिकॉर्ड-अध्ययन से प्रत्यक्ष है कि जब कभी मानव की असख्य, अनन्त, अपूरणीय वासनाओं का औचित्य मनवाने के लिए उन्हें सुविशालित रूप में अभिव्यक्ति दी गयी, लोग टूट के गिरे । तब भी लोकप्रियता मिलती जब, हमारी वह पीड़ाएँ जिनसे सामाजिक गौरव नही, निन्दा-उपेक्षा मिलती ···अनकहे दुःख, दबे-छिपे भय, सड़ी-मरी आशाएँ-आकाक्षाएँ कही से औचित्य पा जाती हैं (मात्र अभिव्यक्ति मिल जाने को हम मे से अधिकतर लोग औचित्य का प्रमाण मानते हैं !) तब ऐसी अभिव्यक्ति देख हमे लगता —उठती थी, उठी थीं, मुझमें भी यही बातें । हमारी ही तो हैं यह, अपनी बातें ! "वाह ! ख़ास मेरे जी की बात कह दी !" 'ग़ालिब' ने ऐसा होने को मात्र उक्ति-कौशल समझा :

देखना तक़रीर की लज़्ज़त कि जो उसने कहा
मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में था।

अर्थात्, केवल कथन-कौशल से प्रतीति हुई ऐसी आत्मीयता की ! कहनेवाले के प्रति यदि प्रेमभाव हो तो सरासर मूर्खता की, उपहास्य बातें भी बड़ी आत्मीय लग सकती हैं, इससे केवल प्रेम का पता चलता है, किसी सचमुच की गुणवत्ता का मूल्यांकन नहीं हो सकता इसके आधार पर ! एक प्रकार का फरेब ही है यह कहना कि "गोया यह भी मेरे दिल मे था !"



आदमियों की बस्तियाँ जो ठहरीं, वह तो नक़्क़ारखाना है आवाज़ों का। हमारी दुनिया हो चुकी है ध्वनि-प्रदूषित। अधिकतर आवाज़ें अनसुनी ही छोड़ देने का मनुष्य—मननशील, मन्त्रशुद्ध प्राणी—के मन ने अच्छा आयोजन कर रक्खा है ! यदि मूर्खतावश कोई प्रत्येक ध्वनि के लिए स्वयं को खुला छोड़ बैठे तो कर ले प्रत्यक्ष अनुभव, शोर-रोरमय रौरव का ! इसीलिए हम सुनते चुनकर 'अपना', जो मेल खाता हमसे, बैठता कोई जोड़ ! यह सुरक्षित तो अवश्य है, लेकिन इसने जो अविकास उपजाया—उधर भी उचटती-सी एक नज़र ! हाँ, तो इस प्रकार के संस्कारण (conditioning) द्वारा सारी मानवता अपनी कुल श्रवण-क्षमता का बहुलांश गँवाये बैठी है। ठाने—दूसरे की हमें सुननी ही नहीं ! इसीलिए, इस मौसम में, जब सारी धरती पर कार्ल सागाँओं (Karl Sagans) की बम्पर फ़सल होनी चाहिए थी—एक मात्र कार्ल सागाँ, अकेले नमूने हैं मानवीय सम्भावनाओं के !

—तो, जिनमें निजी कारणों से हमारा रस होता, वैसी कविताएँ हम रटते—चुटीले उपयोग निकाला करते उनके—अपने मतलब के—इसीलिए हम वैसी कविताएँ देते उछाल ! वैसे—एक प्रसिद्ध वचन : "शस्त्र के रूप में जिसका उपयोग न हो सके, वह भी भला कोई कविता है ?" इस विशेषार्थ में तो प्रस्तुत संग्रह पूरा शस्त्रागार है !



ख़ैर, मेरे अनुभव में, कविताएँ भई, बोर चीज़ें होती हैं—उदास करती, रुलाती, सपने बिगाड़ती, घरौंदे तोड़ डालती—इसीलिए मेरा मन कविताओं के प्रति एक प्रकार का वैर-भाव पालता है ! कौन कहता है कि कविताएँ रोचक होती हैं ? पहले कभी, जब किस्से-कहानी भी कविता में होते थे, जब गणित, ज्योतिष, आयुर्वेदादि शास्त्र भी कविता ही में कहने की मजबूरी थी, तब थी रोचकता अनिवार्य गुण। 'रोचक' और 'रुचिकर' एक नहीं। अरुचिकर, कुरुचिपूर्ण अक्सर अतिरोचक पाया गया है। रुचिकरमहाअरोचक ! जब से कहानी, उपन्यास, फ़िल्म आदि आये—कविता विस्थापित पड़ी है। अब संचार के हर माध्यम का त्याज्य, सबका उच्छिष्ट कविता में उँडेला जा रहा है। बूदलियर (Boudlier), मलार्मे

(Malaime) की कौन कहे, डी०एच्० लॉरेन्स (D. H. Lawrence) जैसे रस-सिद्ध महापुरुष भी इस दोष से नही बचे। नक़लची छुटभैयों की बन आयी। केवल पागल, सरदर्द पैदा करनेवाली, उटपटाग बातो का नाम पड़ गया कविता। निजी जीवन के लिए मैंने सिद्धान्त बना लिया कि "महान् आधुनिक कविता—केवल और केवल वही है जो मेरे भेजे मे किसी तरह न समाये!" बड़ा आनन्द आता है इधर, यह देखकर कि 'महान् आधुनिक कविताएँ' ही लिखी जा रही हैं, प्रचुरतम मात्रा मे। संयोग का आश्चर्य होता है, जब कविता आधुनिक भी होती है और समझ मे भी आने लगती है! मिला कोई अपना-सा रुद्धविकास! पुलक हो उठती! कोई और भी है, इस आधुनिक युग मे जीता, 'अ-महान्', 'निराधुनिक', 'अ-कवि'! इस संग्रह मे खूब भरा है यह महादोष! इन कविताओं का न केवल हर शब्द, हर पंक्ति, हर खड, साफ झलकता चलता है आँखो के सामने—बिल्कुल पारदर्शी हैं ये—बल्कि अपनी तरलता के मौलिक गुण के कारण सभी कविताएँ परस्पर जुड़ी हैं, जैसे संसार के सभी जलस्रोत—नदियाँ, सागर, महासागर—सब परस्पर जुड़े। पूरा सग्रह एकमेवता द्योतक।

तो बात कविताओ की चल रही थी। कविताएँ भरती हैं हमें किसी ऐसे से, जो पूरा-का-पूरा उलीच डालता है हमे। भरकर खाली करती हैं कविताएँ! हमारी दृष्टि अटका लेती, चखाती अन्य दिशाओ की गन्ध।(हाँ, पता : गन्ध घ्राण-विषय।) अटकाव लगता हमें अशुभ। अशुभ लगे तो लगा करे। किरणें जब-जब, जैसे-जैसे कोण बदलती, हरियाली भी वही नही रह जाती। इस उद्घाटन से कुछ हमारे अन्दर भी तो उद्घटित होता है! उसी घटना के महामोहमय जाल मे आबद्ध जीव, भ्रमण करता विधा, अनन्त कोटि योनियाँ। रहस्य का घोर आकर्षण!



हाँ-हाँ, सुना है भई, सुना है।

आदमी सामाजिक-संस्कारण (social conditioning) द्वारा प्रोग्रामित (programmed) है! हाँ, असंख्य, ग़ैरमहसूस भौतिक, रासायनिक, जैविक, भूभौतिकीय, अन्तर-ब्रह्माण्डीय ऊर्जा किरणों द्वारा रचित आदमी का अस्तित्व, उनके समुच्चय रूप आकृति में आभासित। पर, आदमी का आन्तरिक पक्ष भी है। वह तो अपने अन्दर अनन्त अरबो ब्रह्माण्ड छिपाये बैठा है न! इन समुच्चयों के समुच्चय के अतिरिक्त भी है मनुष्य कुछ।

अतिरिक्त है मनुष्य की चेतना। उसका साक्षी। उसका द्रष्टा। द्रष्टा ही से तो कविता सिद्ध होती है। कवि अर्थात् द्रष्टा। वाग्मी कवि नही होता।

हाँ-हाँ, आनुवंशिकी और विकास महाशक्ति की भी ख़बरें हैं।

विकासक्रम व्यर्थ छाँट, श्रेष्ठ बचाने का आदी। आज तक आनुवंशिकता-सूत्र मे हम लिये फिरते रहे हैं—पीढियो के वैर-मद-मोह, क्षोभ-शोक, नित्याभ्यासी जड़ी-

भूत आदतें—घातक रोग ! विकासक्रम को रुचा नहीं यह। ज्ञान के एक विस्फोट से सिद्ध हुआ, संश्लिष्ट रूप में, कि मनुष्य अपने जीन्स का बेबस गुलाम नहीं है। तभी तो सम्भव दिखती कार्ल सागाओं की बम्पर फ़सल !

हाँ, पितरों की कृपा से हमने वे जीन्स पाये जिनसे हम संचालित। वे ऊँचे सोपान थे हमारी विकास-यात्रा के। हम भी सोपान बने। स्वयं पर से गुज़ार दी अगली पीढ़ी। प्रजनन-तंत्र का जैविक, शुद्ध रासायनिक, हॉर्मोनिक खेल चला लाँघ काल। काल लाँघ मनुष्य फिर खड़ा तो है !

इसीलिए होती है हर पीढ़ी की अपनी कविता।

हमारी, पचासे में पड़ी पीढ़ी की अपनी कविता : कुछ अलिखित, कुछ लिखित अप्रकाशित ''कुछ कैसे-कैसे हो गयी है ! इतनी बहुत-सी प्रतिनिधि कविताएँ अपनी पीढ़ी की, दबाये बैठे थे यही सज्जन ! कुछ तो प्रकाश में आया। हमारी पीढ़ी के लिए उल्लास का विषय है। हो तो गया कालसन्तरण, हमारी पीढ़ी काल के पार चली। बीच में जो मौतवाली भयावह नदी थी, सर्जना के उत्ताप से भाप बनी, शायद थी ही नहीं'''पर्याप्त यह, पितृ-ऋण चुकने को !



हाँ, तो प्रथम पाठकत्व मेरा।

जो—'वस्तुनिष्ठ होना चाहिए अध्ययन' इस सूत्रवश मार्ग धरें—वे नापें, जोखें, जाँचें, परखें, चीरें, फाड़ें, गर्म करें, ठण्डा करें, घोलें, फेंटें—जो करें, किया करें !

इसमें कुल जितनी (115) कविताएँ है, जितनी हैं पंक्तियाँ —बीत तो गयी पिछले पृष्ठों में सब। इतने (144) पृष्ठ, इतने शब्द—सब को सम्यक् बलाघात-संगम-संपुष्ट अनुतान में, आत्मसात् कर लेने के लिए पढ़ने से खुलन पैदा हुई। खुलन को, सोचिये, खुलापन कैसे कहा जाये ? मन का स्वभाव हर चोट पर संकुचन, वांछनीय तो क्षितिज-विस्तार। उसका प्रथम चरण खुलन !

इस खुलाव के कारण निजी होते नहीं, मात्र प्रतीत होते। अन्तर-ब्रह्माण्डीय महातरंगों द्वारा आविष्ट होकर ही आता हस्ती का वह खुलाव—खिलाव''' आविष्ट होने को दरकार तैयारियाँ !

हमने कलम पकड़ना, अक्षर बनाना, लिखना, आशय व्यक्त करना, अपनी बात कहना—कविता के अन्य असंख्य उपकरण-उपाय अर्जित करने में जो श्रम किया—शब्द सीधे और व्यवहार के उपाय जान डाले, यह सब तो था कविता का राजमार्ग बनाने का उपक्रम—जब आयी हुई लिपने के मजे सधते, पटवारे मिल जाते—तो सुकवि केवल अपना देखा कहते हैं !

मौलिकता की बहस, कविमनीषी एज़रा पाउण्ड से नीचे उतरते ही, ओछी हो जाती है ! अस्तित्वगत महा-ऐक्य में भी हर फूस की अपनी हस्ती। कोई नहीं

नक़ल किसी की। जीन्स का एक-सा रखने वाला सांचा···पर कण-कण का अपना व्यक्तित्व !



प्रसादस्वरूप हज़रत मौलाना अबुलकलाम साहब आज़ाद की एक अभिव्यक्ति, उनके 'तज़किरे' से : "हाथ मे मिक़्यास-ने-मीज़ान(फ़ीता-तराज़ू) नही, पहलू मे रखा है हुस्नपरस्त दिल !" हुस्न का मामला विचित्र—"ख़ुद हुस्न कमाले हुस्न है, यानी, हुस्न जहाँ है, कामिल है !" हाँ, सौन्दर्य जहाँ है, पूर्ण है, वही तो करता पूर्ण ! और सारल्य तो देखो—हुस्न जहाँ, वैसा व्यक्त : हुस्न हिमालय का, या, ताजमहल का, अजन्ता, एलोरा, ग्रीक मास्टर्ज़्ज-माइकेल आञ्जिलो—झरने और पहाड़, शेर और मोर—सब के हुस्न पर नजर पड़ने के लिए गेस्टाल्त (gestalt) ही चाहिए दूसरा। हुस्न आज़ाद। उसकी मर्ज़ी। वह क़ुरआनी के शब्द-सौष्ठव भरे अनुगुंजन से सगीत उठाये या सैफो और कुर्रतुलऐन के राग जगाये—बियोवेन और यहूदी मैनुहिन की कम्पोज़िशन्स से धड़कनें बढ़ाये दिल की, या, जो कर बैठे···

उसे—हुस्न को हर रग, हर रूप मे ताड़ जानेवाले 'नज़ीर' अकबराबादी तब से आज तक उपेक्षित ही पड़े हैं। धीमी-धीमी, दबी ज़बान से, बस, चर्चाएँ भर हो ली हैं। उनके पाठक को मिली नही अब तक उनकी रचनाएँ। जाने किस डर से सर्वग्राह्य नही दिख पाते वह ! हम जितने विषवाण-बिंधे सबका तोड़ नज़ीर की कविता !



ख़ैर, तो अकेले फूल का सौन्दर्य और जादू जगाता। दो डालो के दो फूलो की पूर्णतः खिली अवस्था का सौन्दर्य दूसरा ही जादू घोलता बगिया की हवाओं मे ! पूरी बगिया के सारे फूलों पर बहार आयी हो—तो, हुस्न का जो शहर बसता है उसकी मार बड़ी गहरी, काट विपुलधारी ! डँस लेवा वह शहर ! सुना, उसका काटा पानी माँगे ना !

पहलू मे हुस्नपरस्त दिल लेकर पढना शुरू किया तो घिरा बिजलियो मे !

हुस्न की यह चर्चा, हमारी, पचास-पडी पीढी की 'बुढभस'—मात्र नही, भाई ! यह उतना कुम्हलौना हुस्न नही। इसकी आयु धरा-सापेक्ष न होकर ब्रह्माण्ड-सापेक्ष ! जिस हुस्न का चुम्बक, रगों मे दौड़ते लोहे से गर्म चिंगारियाँ छिटकाता—उसकी सुध लेने को अब तो बच्चे है ही—या पिछड़े पड़े लोग—बहुत कुछ में, हम से कही आगे !

हुस्न मौलाना साहब के 'तज़किरा' नामक सद्ग्रन्थ में चरम, सत्यशिवमय परम सौन्दर्य का प्रतीक ! हुस्न, इस सन्दर्भ में, उनका पावन चरित, जिन्होने सत्य देखा और डटे। सत्ताओं को सदा रही उनसे अड़चन। शक्तिमान सत्ता कहाँ, कहाँ निहत्थे लोग। पर सत्यवालों ने वाणी, महाविद्या, महाशक्ति के उपयोग से कर

डारे अस्त्र-शस्त्र सब निरस्त ! वे हार कर जीते। मरकर जिये ! तैर गये, फलांग गये कालतट ! बांकी बातें ! इस हुस्न की परस्तारी थोड़ा महँगा सौदा ! आंकी बात ! सदा रही है, सदा रहेगी महँगी—टाँकी बात !

□

बात, हर ओर प्रस्तुत संग्रह से दूर खिसक जाती।

स्थितियाँ तीन ही हैं : समझा जाना। न समझा जाना। ग़लत समझा जाना —अतिमूल्यन या अवमूल्यनवश ! ग़लत समझा जाना मात्र विपर्यय नहीं—जो वस्तुतः है, उससे सर्वथा भिन्न, और ही कुछ समझ लिया जाना—बड़े दर्द, बड़े क्षोभ की बात !

सोचना चाहिए—उस पर क्या बीतती, होना पड़ता जिसे ग़लतफ़हमियों का शिकार ! खँगालिये अपने अनुभव। सिद्ध होगा कि जो ग़लतफ़हमियों का शिकार होकर मज़े लेता—उसके पास हथियार बड़े पैने। लहजा धीमा, आवाज मद्धिम, शब्द रोज़मर्रा के, पर बात क़ातिल !

मुझे न समझना स्वीकार, खरबों बातें नहीं समझता, ग़लत समझना—कभी नहीं ! ग़लत समझ से तो उत्पात खड़े होते, विघ्न सभी प्रकार के जनमते।

धीमे लहजे, मद्धिम आवाज़ में रोज़मर्रा के शब्द सन्देसे लाते हैं खुलन के ! अनसुनी करने की चीज़ नहीं।

सामान्य बोलचाल के पहलूदार शब्द, जिनमें न ध्वनि-प्रदूषण, न आक्रमण चेतना पर, बातचीत ! चिंगारियों की फुलझड़ियाँ बीच-बीच ! जी, कविता इतनी दिलचस्प भी होती है !



अन्त में कुछ शब्दों पर संकेत, वृहत्तर हिन्दी जगत् के लिए :

टपरते=मात्र फिसलना नहीं यह। कुछ गलकर, खौलकर, उबलकर, उफनकर बहने लगता है—गर्म लहर दौड़ती चलती। टपर जो पड़ता बह जाता है मिट्टी मिलने, या सीधे आग में !

झमोड़=हवा कमज़ोर टहनियों को मोड़ती, झकझोरती, मरोड़ती ! तीनों युगपत घटनेवाली क्रियाएँ एक शब्द में सिमटी।

डौंक=शेरों की दहाड़, गरज, गर्जन—किसी पर्याय में प्रतिध्वनि नहीं। वही तो कई गुनी होकर थर्रा देती हर प्राणी को। चित्र अधूरा रह जाता किसी अन्य शब्द से। एक पुराना उदाहरण :

"बो कैंमे हिलती है शेरों के डौंकने से कछार !"

सिहक=सबसे अधिक निकट "फड़क" से। सिहक उठती अचानक। हाथ, पाँव, नाभि, जंघा कहीं। फड़कन, सिहरन, कम्पन, थिरकन, स्पन्दन—पाँचों का सुख-दुःख मिला झटका !

रौंद जाना="रौंदना" से "रौंदना" क्रिया। "रौंदे गये" "रौंदे हुए" अर्थ में!

किरनीले हाथ='कर' का एक अर्थ हाथ, दूसरा किरण, किरण-गुण सम्पन्न हाथ।

टहक लाल=दहकता अंगारा जिससे प्रकाश-ताप दोनों विकीर्ण। उस अरुणिमा का नाम "टहक लाल"। "टहक लाल टेसू के फूल" पुरानी अभिव्यक्ति।

बिटोरना=बटोरना, अर्थतः एक, उच्चारणतः भिन्न, बटोरने, संगृहीत करने के भाव से बढ़े हाथों का शब्द-चित्र प्रस्तुत करता!

ठेठाना=बेधड़क, बिन रुके, पूरे जोर से मारते ही जाना; छत की पिटाई, बच्चे की; या हतुपत्निका, सद्यःविधवा का सर, छाती, मुँह, जाँघ पीट-पीटकर विलाप,—तीनों अवसर "ठेठाने" के!



अर्थात्, यह संग्रह 'टॉनिक' की एक पूरी बोतल!

बहुश्रुत अनुमान है कि मनुष्य की चेतना ने अभिव्यक्ति के चार माध्यम आरम्भ ही में ढूंढ़ लिये। अब कौन पहले, कौन बाद, इस विवाद से कुछ तत्त्व हाथ नहीं आता। ये चार थे: चित्रांकन-चित्रलेखन, ध्वन्यांकन (=काव्य), नर्तन तथा गायन-वादन।

चित्रांकन मिटता। नृत्य-संगीत मात्र तात्कालिक। नर्तन बन्द। नृत्य समाप्त। गायन-वादन बन्द, संगीत-विलीन! श्रुति-स्मृति के सहारे काव्य कुछ अधिक स्थायी। (चित्रांकन से मूर्तिकला तक की विकास-यात्रा का प्रसंग भी तत्काल छोड़ा।)

इसके साक्ष्य, यूँ तो प्राचीन सभ्यताओं के सारे इतिहास में विपुल। किन्तु काव्य, प्रतिष्ठित सर्वाधिक भारत ही में। (कालान्तरवश सर्वाधिक अप्रतिष्ठित भी यहीं। पर, यह दूसरा ही विषय।) प्रतिष्ठाकाल में हमारी जीवन-दृष्टि, जीवन-शैली ही हो गयी पूरी—छन्द-रस-अलंकारादि उपकरणों से बँधी कविता।



हमारे सब-से बड़े-'कवि', निर्विवाद रूप से भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन (=बादरायण) वेदव्यासदेव!

इसीलिए ज्ञान-विज्ञान रूप में, भारत का, जो भी अवदान है, विश्व को—वह या तो सूत्रबद्ध, या श्लोकबद्ध! 'सूत्र' और 'श्लोक' के भेद के प्रसंग पर चर्चा का अनवसर, फिर भी, बात छिड़ी तो कहने से नहीं चूकना चाहिए कि ऊँचे उत्ताप पर काव्य पहले वाष्पीभूत होता, फिर तरल होकर प्रवाहित होने लगता 'गिरा ज्ञान' रूप में। इस प्रक्रिया में रूपान्तर घटित हो जाता—श्लोक परिशोध प्राप्त

कर, सूत्रसार मे समाविष्ट हो जाते हैं। ढल जाते सूत्र-साँचे।



साहित्य के इतिहासकार, भगवान् वाल्मीकि को तो, कवियों की पङ्क्त मे घसीटते पाये गये है किन्तु भगवान् व्यास को 'कवि' कहने का साहस नही।

कवि रूप मे, सामान्यतः विचरते जीव तो, अवचेतना क्या, अचेतना के तल पर, दुर्भारस्वरूप, जीवन का महाप्रसाद नष्ट करते, दिखते हैं। अँधेरे मे बेचारे ठोकरें खाते। चीत्कार मारते, बिलक-बिलक कर रोते, गरज-गरज कर धमकियाँ देते—मगर यह सब नाटक-मात्र। जीवन की कोई व्यवस्था तनिक कँपती तक नही। कविता भी चल रही है, और, चला जाता सब कुछ, यथावत्, यथापूर्व।

इस कवि-पंगत से तो सुकविगण तक कतरायें—भगवान् व्यास तो बहुत ऊँचे। कहाँ समस्त ज्ञान-विज्ञानसम्भव के पूर्णतः पारगामी भगवान्, कहाँ कोई औचट-चपेट खाये, विकल बिललाते सुकविगण!

अतः समस्त भारतीय वाङ्मय का समुच्चयबोधक एक नाम—व्यास!



भगवान् व्यास ने स्वयं को 'कवि' नही कहा। कैसे कहते? वे तो द्रष्टा हैं। चिरञ्जीवी! बहुत बारीक बात—अमर नही। मरण का नकार कर जीता हुआ—अ-मर, नही। चिरञ्जीवी। जीवन को उसकी सम्पूर्णता-शाश्वतता में अङ्गीकार करते! जीवन की सबसे उत्ताल तरंगें और इसके अतल-वितल की गहनतम गहराइयाँ—सब समेटे, सब सम्हाले!

'कवि' शब्द का, भगवान् व्यास का जो प्रयोग, मुझे सबसे प्यारा है, वह है श्रीमद्भगवद्गीता के दशम अध्याय मे : 'कवीनामुशना कविः' (श्लोक 37) अर्थात् 'मैं कवियो मे उशना कवि हूँ!'

विभक्तिवश पद बना 'उशना', शब्द तो 'उशनस्'=शुक्रग्रह के अधिष्ठाता देव का नाम है! भगवान् शुक्र, भगवान् भृगु के सुपुत्र। पातालवासी चिरञ्जीवी बलि के गुरुवर।

कहते हैं, बुद्धिमत्ता की ख्याति के कारण, शुक्रदेव का उल्लेख वेदों मे 'काव्य' के नाम से है। वे गृह्यसूत्रों और धर्म-शास्त्रों के प्रणेता रूप मे सुप्रतिष्ठित हैं। नागरिक-राज्य-व्यवस्था विषय के सबसे प्रामाणिक ज्ञाता।

भगवत्ता के ज्वाज्वल्यतम अनुभवी के रूप मे विख्यात रहे होगे भगवान् शुक्र। अन्यथा, कैसे कह पाते भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से : 'कवीनामुशना कविः'!

श्रीमद्भगवद्गीता और मनुस्मृति के अनुसार 'कवि' शब्द 'सर्वज्ञ' का पर्याय। इसके अन्य अर्थ—प्रतिभाशाली, चतुर, बुद्धिमान्, विचारवान्, विचारशील, प्रशस्य। पुरुषवाचक 'कविः'=बुद्धिमान् पुरुष, विचारक ऋषि; कुछ दिनों तक 'काव्यकर्त्ता' के अर्थ मे भगवान् वाल्मीकि के लिए यह शब्द रूढ़ था। परन्तु समस्त

वेद-विद्याओं के आदि उत्स ब्रह्माजी के लिए भी इस शब्द का प्रयोग उपलब्ध। सब कुछ को स्पष्ट, यथावत् प्रकट कर देने वाले भगवान् दिनकर को तो, ख़ैर, ठीक ही 'कवि' कहा गया है !

'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति <'कु' धातु में 'इ' प्रत्यय लगने से—कु+इ=कवि; 'कु' धातु भ्वादिगणीय रूप में 'ध्वनि करना'। तुदादिगणीयरूप में—'बड़बड़ाना', 'कराहना', 'चिल्लाना', 'क्रन्दन करना'। अदादिगणीय रूप मे—'भिनभिनाना', 'कूजना', 'गुंजन करना' जैसे अर्थ ग्रहण करती है।

आज, जब हम शब्द 'कवि' प्रयोग करते हैं तो इसमें उपर्युक्त सभी अर्थों का समाहार होता है।

बार-बार कहा जा रहा है कि मात्र पागल विवक्षा काव्य नही है। वाग्मिता तो काव्य है ही नहीं। फिर भी दिनानुदिन वाग्मियों की संख्या शत-सहस्त्रगुण बढ़ती गयी। चढ़े चले जाते वाग्मी।



आगे बढने से पहले एक और संकेत—

हम अतिक्रमणो के युग मे। कोई सीमा नही जो अतिक्रमित न हो। विकास के साधन-अवसर दोनो जिसे उपलब्ध हों, वह भला निचला बैठे, न करे अपना क्षेत्र-विस्तार? खेद का अवसर है कि कविता निचली बैठी और अपना अधिकतर क्षेत्र गँवा बैठी।

पहले सौन्दर्य-चित्रण का कौशल दिखाती थी कविता। यह क्षेत्र पूरा छिन गया। अच्छी-से-अच्छी कविता सौन्दर्य को उस तरह प्रत्यक्ष नही कर सकती जैसे मामूली कैमरे। कविता शब्दों में अनुभूतियाँ पैक किया करती थी। विश्वसनीयता-सुन्दरता अधिक वीडियो-ऑडियो रिकॉर्डिंग मे। कथा-कहानी का क्षेत्र तो कविता से छिने युगों बीते। कथा-प्रस्तुतिकरण की कला—कहानियों, उपन्यासों, फिल्मों से होती हुई कही आगे जा चुकी।

भारत का अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह 'ज़फ़र' लाल किले भर मे सीमित रह गया था। इस पर एक-से-एक दर्दनाक चर्चाएँ हुई हैं। कविता जो मनः-प्रदेश रूपी लाल किले मे डेढ सदियो से कैद भोग रही है, इस पर एक आँख नम नहीं दिखती। जबकि कविता की क्षमता स्वयंसिद्ध है। यह उत्कृष्टतम-निकृष्टतम दोनो को, जो भी हममे दबा हुआ हो, जगा दे सकती है। पाशविक कविताएँ भी दिखती हैं, दैवी भी। कविता जब कभी किसी भीड को आविष्ट कर लेती तो असम्भव सम्पन्न करा देती।

क्रान्ति की कल्पना-मात्र से लोग काँपे जाते। क्रान्तियाँ बड़े धमाके करती, बहुत धुआँ उगलती, ढेर सारी बारूद की गन्ध फेफड़ों मे अनायास भर देती और खून कितना बहाती इसका ठीक अनुमान तक नही। और, हमें जानना चाहिए कि

कर, सूत्रसार मे समाविष्ट हो जाते हैं। ढल जाते सूत्र-साँचे।



साहित्य के इतिहासकार, भगवान् वाल्मीकि को तो, कवियों की पङ्क्त में घसीटते पाये गये हैं किन्तु भगवान् व्यास को 'कवि' कहने का साहस नही।

कवि रूप मे, सामान्यतः विचरते जीव तो, अवचेतना मया, अचेतना के तल पर, दुर्भाग्यस्वरूप, जीवन का महाप्रसाद नष्ट करते, दिखते हैं। अँधेरे मे बेचारे ठोकरें खाते। चीत्कार मारते, बिलक-बिलक कर रोते, गरज-गरज कर धमकियाँ देते—मगर यह सब नाटक-मात्र। जीवन की कोई व्यवस्था तनिक कँपती तक नही। कविता भी चल रही है, और, चला जाता सब कुछ, यथावत्, यथापूर्व।

इस कवि-संगत से तो सुकविगण तक कतरायें—भगवान् व्यास तो बहुत ऊँचे। कहाँ समस्त ज्ञान-विज्ञानसम्भव के पूर्णतः पारगामी भगवान्, कहाँ कोई औचट-चपेट खाये, विकल बिललाते सुकविगण!

अतः समस्त भारतीय वाङ्मय का समुच्चयबोधक एक नाम—व्यास!



भगवान् व्यास ने स्वयं को 'कवि' नही कहा। कैसे कहते? वे तो द्रष्टा हैं। चिरञ्जीवी! बहुत बारीक बात—अमर नही। मरण का नकार कर जीता हुआ—अ-मर, नहीं। चिरञ्जीवी। जीवन को उसकी सम्पूर्णता-शाश्वतता मे अङ्गीकार करते! जीवन की सबसे उत्ताल तरंगें और इसके अतल-वितल की गहनतम गहराइयाँ—सब समेटे, सब सम्हाले!

'कवि' शब्द का, भगवान् व्यास का जो प्रयोग, मुझे सबसे प्यारा है, वह है श्रीमद्भगवद्गीता के दशम अध्याय में : 'कवीनामुशना कविः' (श्लोक 37) अर्थात् 'मैं कवियों मे उशना कवि हूँ!'

विभक्तिवश पद बना 'उशना', शब्द तो 'उशनस्=शुक्रग्रह के अधिष्ठाता देव का नाम है! भगवान् शुक्र, भगवान् भृगु के सुपुत्र। पातालवासी चिरञ्जीवी बलि के गुरुवर।

कहते हैं, बुद्धिमत्ता की ख्याति के कारण, शुक्रदेव का उल्लेख वेदों मे 'काव्य' के नाम से है। ये गृह्यसूत्रों और धर्म-शास्त्रों के प्रणेता रूप मे सुप्रतिष्ठित हैं। नागरिक-राज्य-व्यवस्था विषय के सबसे प्रामाणिक ज्ञाता।

भगवत्ता के जाज्वल्यतम अनुभवी के रूप मे विख्यात रहे होंगे भगवान् शुक्र। अन्यथा, कैसे कह पाते भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से : 'कवीनामुशना कविः'!

श्रीमद्भगवद्गीता और मनुस्मृति के अनुसार 'कवि' शब्द 'सर्वज्ञ' का पर्याय। इसके अन्य अर्थ—प्रतिभाशाली, चतुर, बुद्धिमान्, विचारवान्, विचारशील, प्रशंस्य। पुरुषवाचक 'कविः'=बुद्धिमान् पुरुष, विचारक ऋषि; कुछ दिनों तक 'काव्यकर्त्ता' के अर्थ मे भगवान् वाल्मीकि के लिए यह शब्द रूढ था। परन्तु समस्त

वेद-विद्याओं के आदि उत्स ब्रह्माजी के लिए भी इस शब्द का प्रयोग उपलब्ध । सब कुछ को स्पष्ट, यथावत् प्रकट कर देने वाले भगवान् दिनकर को तो, ख़ैर, ठीक ही 'कवि' कहा गया है !

'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति <'कु' धातु में 'इ' प्रत्यय लगने से—कु+इ=कवि; 'कु' धातु भ्वादिगणीय रूप में 'ध्वनि करना' । तुदादिगणीयरूप मे—'बडबडाना', 'कराहना', 'चिल्लाना', 'क्रन्दन करना' । अदादिगणीय रूप मे—'भिनभिनाना', 'कूजना', 'गुंजन करना' जैसे अर्थ ग्रहण करती है !

आज, जब हम शब्द 'कवि' प्रयोग करते है तो इसमे उपर्युक्त सभी अर्थों का समाहार होता है ।

बार-बार कहा जा रहा है कि मात्र पागल विवक्षा काव्य नही है । वाग्मिता तो काव्य है ही नही । फिर भी दिनानुदिन वाग्मियो की संख्या शत-सहस्रगुण बढ़ती गयी । चढे चले जाते वाग्मी ।



आगे बढने से पहले एक और सकेत—

हम अतिक्रमणों के युग मे । कोई सीमा नही जो अतिक्रमित न हो । विकास के साधन-अवसर दोनों जिसे उपलब्ध हों, वह भला निचला बैठे, न करे अपना क्षेत्र-विस्तार ? खेद का अवसर है कि कविता निचली बैठी और अपना अधिकतर क्षेत्र गँवा बैठी ।

पहले सौन्दर्य-चित्रण का कौशल दिखाती थी कविता । यह क्षेत्र पूरा छिन गया । अच्छी-से-अच्छी कविता सौन्दर्य को उस तरह प्रत्यक्ष नही कर सकती जैसे मामूली कैमरे । कविता शब्दों में अनुभूतियाँ पैक किया करती थी । विश्वसनीयता-सुन्दरता अधिक वीडियो-ऑडियो रिकॉर्डिंग मे । कथा-कहानी का क्षेत्र तो कविता से छिने युगों बीते । कथा-प्रस्तुतिकरण की कला—कहानियों, उपन्यासों, फिल्मो से होती हुई कही आगे जा चुकी ।

भारत का अन्तिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह 'ज़फ़र' लाल किले भर में सीमित रह गया था । इस पर एक-से-एक दर्दनाक चर्चाएँ हुई हैं । कविता जो मन.-प्रदेश रूपी लाल किले में डेढ़ सदियों से क़ैद भोग रही है, इस पर एक आँख नम नही दिखती । जबकि कविता की क्षमता स्वयंसिद्ध है । यह उत्कृष्टतम-निकृष्टतम दोनों को, जो भी हममें दबा हुआ हो, जगा दे सकती है । पाशविक कविताएँ भी दिखती हैं, दैवी भी । कविता जब कभी किसी भीड को आविष्ट कर लेती तो असम्भव सम्पन्न करा देती।

क्रान्ति की कल्पना-मात्र से लोग काँपे जाते । क्रान्तियाँ बडे धमाके करती, बहुत धुआँ उगलती, ढेर सारी बारूद की गन्ध फेफडो मे अनायास भर देती और खून कितना बहाती इसका ठीक अनुमान तक नही । और, हमें जानना चाहिए कि

'कविता' 'क्रान्ति' की सगोत्रा। कविता से लोगों को इसी कारण भय। भला हमारे 'शान्तिप्रेमी' क्रान्ति का मार्गरोध करने से कैसे चूकें?

इसीलिए 'छायावाद' से 'अकविता' आदि तक के सारे आन्दोलन! इन तथाकथित सारे आन्दोलनों के मूल मे 'क्रान्ति' को विमुख कर देने का एकमात्र उद्देश्य। इसीलिए 'छायावाद' हो या 'नकेनवाद' —सबका सीधा अर्थ सामान्यजन ने ग्रहण किया : अब कविता कोई ऐसी वस्तु बन गयी है जिसमें सामान्य लोगों को कोई रस नही मिल सकता। अब जो कविता है, उन असामान्य लोगो के लिए है जो विचित्र पारिभाषिको से बोझल, शुद्ध पाखण्ड की वह भाषा बोलते हैं जिसका काम कभी साधारण लोगों को नही पडता।

'साहित्य' का अर्थ ही हो गया, वह बातें जो सामान्य उपयोग की नही।

जन-सामान्य कुछ पढने के लिए फ़िल्मी ढग के उपन्यासों, कहानियो, सत्यकथाओ आदि पर निर्भर हो गये। कविता की माँग पूरी करने के लिए फ़िल्मी गीत थे ही। अधिक परिष्कृत रुचिवाले लोकधुनो या शास्त्रीय संगीत मे रुचि बढ़ाने लगे।

प्रामाणिक जानकारी है मुझे, कि सौ वर्ष बीत गये—अब तक हमारी सत्तर करोड जनता तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र तक नही पहुँचाये जा सके। छायावाद, नकेनवाद, प्रतीकवाद, अकवितावाद आदि के वितण्डावादो की कौन कहे?



"हैं राग उन्ही के रग भरे औ' भाव उन्ही के साँचे हैं
जो बेगत, बेसुर-ताल हुए बिन ताल पखावज नाचे हैं"

'नज़ीर' अकबराबादी साहब की यह बात—'साँचे भाव' पर बल देकर—आज भी प्रासंगिक। 'नज़ीर' जी की गरिमा यही, कि, उन्हे वह सब सुस्पष्ट दिखता जो औरो की आँखो से ओझल। इसी आधार पर वे आज तक अक्षम्य!

जी, वाङ्मय का लोक है यह। यहाँ बहुत दिनो से ऐसा ही 'राज' : पहले तो बेकार के ऐसे विवाद खडे किये जाते कि जनता तक पहुँचकर ख़तरनाक बन सकने वाली कविता रची ही न जा सके। यदि कोई लुक-छिपकर ऐसा लिख ही बैठे तो उसे ऐसा अदेखा करना कि लोगो तक वह पहुँच ही न पाये। जी चाहता है 'मीर' जी का एक शेर सुनाने का :

'यही जाना, कि, कुछ न जाना हाय! सो भी, इक उम्र मे हुआ मालूम!'



कविता का कुछ भी रस पाने वाला हर व्यक्ति, सच्चे कारणो से, इस प्रश्न मे उत्सुक है कि 'कविता कैसे होती है?'

सच्ची उत्सुकता के उत्तर मे कोरी बकवासें पिलायी जा रही हैं।

सीधी बात—

तैयारियाँ-सी होती, कुछ अभ्यास किये जाते, बस, बैठ लिखा जाता। कुछ

काल तो मन हटता। फिर रमने भी कही लगता। मन अपनी कहे जाता। फिर 'भूर' फूट जाता। खुल जाता सोता कोई···फिर लहरें उठने लगती, अवचेतना के तल की ! कुछ चेतना मे चिन्तन, कुछ दुःख वही चिरन्तन। कुछ भय नये-पुराने। उत्साह बोल पड़ता। साहस भी जाग जाता। कुछ आहटें नयी भी ! कुछ बादलो से वर्षा। फिर इन्द्रचाप खिलता···कुछ खेत लहलहाते। मिल प्रेम गीत गाते···

ऐसे ही, होने लगती; बस, होती तो हो जाती···

आरम्भिक अभ्यास चलते कुछ दिन। थोड़े दिनों तक केवल रेचन चलता रहता। फिर टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियाँ तैयार होने लगती—कविता की। जिस दिन काव्य-रथ के योग्य प्रशस्त मार्ग बन जाता, कविता के रथ का घर्घर नाद भी स्पष्ट हो जाता। उस समय कविता आविष्ट कर लेती हमे। कविता होती पूर्णाधिकारिणी स्वामिनी। काव्यकर्मी मात्र उसका अनुगामी यान्त्रिक। कविता उससे जो कराती, करता। अन्दर से बही आती धारा। कभी-कभी तो बाढ़-सी, उत्प्लावन जैसी। कभी क्षीण भी पड़ती धारा। पर, सामान्यतः कविता एक अनवरत निर्झर।

हमारी ओर से इतना ही होता कि हम कविता को उपलब्ध रहते। कोई महत्त्वाकाक्षा हमे कविता से विमुख नही करती। तब कविता स्वय पकड़ लेती है। हो जाती है। करनी नही पड़ती कविता। सुकवि वही, जो औचट चपेट मे पड़ने से नही डरते।



प्रस्तुत संग्रह की कविताएँ की नही गयी, हुई हैं।

कवि श्री केदार नाथ सिंह है, राष्ट्रकवि श्री रामधारी सिंह दिनकर के दूसरे, एकमात्र जीवित-बचे पुत्र।

स्वनामधन्य महापुरुष होना कोई ऐसी-वैसी बात नही। 'स्वनामधन्य', जिनकी पहचान को स्वयं उनका नाम पर्याप्त होता। उन्हे अपने परिचय मे किसी का नाम नही लेना पड़ता। स्वनामधन्य लोग भी एक अवस्था तक 'अमुक के पुत्र-पौत्र', 'अमुक के नाती-भगिना' कहे ही जाते हैं। अपना नाम लेने योग्य होने के लिए वयस्कता प्राप्त करनी पड़ती है। 'उशना कवि' की चर्चा पीछे हुई। उन्हे भी भगवान् भृगु के नाते जाना ही जाता है।

'स्वनामधन्य' महापुरुषो की सन्तान होने मे भी एक दोष है। उनकी निजता का तिरस्कार। वे वे है, यह उन्हे कहने नही दिया जाता। उनसे सदा अपेक्षा होती है कि वे अपने को अपने पूर्व पुरुष के नाम से ही पहचानें। विकास-रोध का यह उपक्रम निष्प्रयोजन नहीं। जिसे अपनी निजता उपलब्ध नही होती, वह तो सहारा पकड़े, रुद्धविकास रह ही लेता है।

श्री केदार रुद्धविकास नही रह सकते थे। उन्होंने अपनी निजता के विकास

के अतिरिक्त और कुछ में रुचि नहीं ली। प्रस्तुत कविताएँ उनकी इसी निजता का उद्‌घोष हैं! ये कविताएं प्रमाण हैं कि वे स्वयं हैं। आधुनिक अर्थों में भृगु के वही वंशधर!



इस संकलन की कविताएँ मुख्यतः 1982-85 के मध्य विरचित हैं। परन्तु ऐसा नहीं है कि लिखना उन्होंने 1982 से ही आरम्भ किया। लिखा करते थे वे पहले भी। 76-77 में भी उनकी कुछ कविताएँ मैंने देखी थीं।

इस संग्रह में जो कविताएँ हैं उनमें बहुतेरी मुझे प्रथम पाठ में अधूरी लगीं! कुछ बाद में मैं समझ पाया कि प्रथम पाठ में अधूरा लगना ही तो पूर्णता थी इन कविताओं की। इन कविताओं ने भावों, विचारों, अनुभूतियों के सागर में हलचल मचायी। उठा दिये प्रश्न। चल पड़ा ऊहापोह। उठने लगी तरंगें : यही तो थी इनकी सफलता। जीवन की कोई 'हस्त पुस्तिका' नहीं होती। 'हस्त पुस्तिका' बनने के लिए कविताएँ नहीं लिखी जातीं।

सफल कविता वही है जो हमारे दुःख-मोह भंग करती। जगाती हमारे अन्दर कुछ। इस अर्थ में इस संग्रह की प्रत्येक कविता सुकविता है।

इस आधार पर मैं कह सकता हूँ कि यह संग्रह और इसका प्रकाशन कोई नित्य नैमित्तिक कृत्य नहीं है। यह है कभी-कभी उगनेवाले धूमकेतु जैसा!

इस वर्ष हेली का धूमकेतु उदित होगा पश्चिम क्षितिज पर। उसी के साथ हिन्दी साहित्य के पूर्वाकाश पर उदित हुआ यह—'बाँका सूरज, बाँका सूरज!' देखें, साहित्य के राज्य में 'नजीर' वाली शनि ही मिलती है इसे—पुनरुक्ति होती है इतिहास की; अथवा, कुछ शिक्षा मिली हमें अतीत से!

पढ़ें, परखें, निरखें! लें, कुछ और निवेदित कर हटा जाता हूँ, बीच से!

"व्यासोच्छिष्ट जगत्सर्वं"-जैसी सूक्तियों का भाव, यही तो है, कि, भगवान् व्यास हमारे सबसे बड़े कवि। विस्मय यह कि स्वयं उन्होंने इस शब्द की छाया तक से बचने का प्रयास किया, पूर्वोक्त गीता (10/37) का पूरा भाव इस प्रकार :

"मैं वृष्णियों में वासुदेव,
पाण्डवों में धनञ्जय,
ऋषियों में व्यास
—और कवियों में उशना कवि हूँ!"

वे, वक्ताश्री, तो थे ही वृष्णियों में वासुदेव। यह भी निस्संशय, कि, सम्बोधित थे पाण्डवों में धनञ्जय, उक्त चारों की भगवत्ता भी विवादास्पद नहीं। इस वचन से प्रासंगिक प्रश्न उठता है कि आखिर 'कवि' और 'ऋषि' में क्या भेद?

'कवि' की कुछ चर्चा हो चुकी। अब थोडी बातें 'ऋषि' पर हो।

रूढ भाषाकोश मे 'ऋषि' का व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ :

"[ऋष्+इन्, कित्;] 1. अन्तःस्फूर्त्त कवि या मुनि; मन्त्रद्रष्टा; 2. पुण्यात्मा मुनि, संन्यासी, विरक्त योगी; 3. प्रकाश-किरण।"

उलझा दी सारी बात, इस कोश-कर्म ने। इसका तो अभिप्राय यह हुआ कि 'कवि' तो 'कवि' हैं ही, 'ऋषि' भी कुछ और नही, कुछ बढ़े-चढ़े 'कवि' ही होते हैं!

आ गया मुकामे-अदब! 'वा अदब बा मुलाहिजा, होशयार!'



'मुनि' अर्थात् 'मौन को उपलब्ध' जिसके अन्तरतम मे भी कही उत्कण्ठा-व्यग्रता नही।

'मन्त्रद्रष्टा' जो, मन्त्र देखे। 'मन्त्र' क्या?

'मन्त्र' शब्द का सम्बन्ध एक अर्थ-गुच्छ से। इस पर कोशोल्लेख :

'[मन्त्र+अच्] 1. (किसी भी देवता को सम्बोधित) वैदिक सूक्त, [वेद के पाठ तीन—(i) छन्दोबद्ध और उच्चस्वर मे बोला जानेवाला : ऋक्, (ii) गद्यमय और मन्दस्वर मे बोला जानेवाला : यजुस्, और (iii) छन्दोबद्धता-गेयता संयुक्त : सामन्] 2. वेद का मात्र सहिता-पाठ (ब्राह्मण-भाग छोड़कर); 3. मोहन, वशीकरण या आवाहन के मन्त्र; 4. किसी देवता को उद्दिष्ट कर बोला गया प्रार्थना परक यजुस्; 5. गुप्तवार्त्ता, मन्त्रणा, परामर्श, उपदेश, संकल्प, योजना; 6. गुप्त योजना या मन्त्रणा, रहस्य।"

—'मन्त्र' के जितने अधिक लक्षण एक साथ दिखे, उतना बड़ा 'मन्त्रद्रष्टा'। सम्पूर्ण अर्थ मे जो देख पाये वह पूर्ण।

—तो, 'मुनि' और 'मन्त्रद्रष्टा' यह दोनो तो 'अन्तःस्फूर्त्त कवि' के ही उपलक्षण, आन्तरिक 'मौन' घटने के पूर्व मन्त्रदर्शन नही होता, 'मन्त्रदर्शन' के बिना वह आन्तरिक स्फुरणा जागती नही जिसका सहज प्रवाह कवित्व।

तब शेष चारों (अर्थात् 1. पुण्यात्मा मुनि, 2. संन्यासी, 3. विरक्त योगी, और 4. प्रकाश-किरण) भी 'कवि' के ही उपलक्षण।



फिर भी—हमारा जनमानस सस्कारित कुछ इस तरह कि 'ऋषि' श्रेष्ठतर। 'कवि' भी श्रद्धेय, पर ऋषिवत् नही, तनिक न्यून।

तनिक-सी यह न्यूनता आखिर कहाँ से आयी?

—कथा प्रसंग यह कि परम भागवतपुरुष महाराज प्रह्लाद के पौत्ररत्न, विरोचन के सुपुत्र, महाराज बलि। देवता सन्तप्त उनसे। किन्तु ऐसा था नही, कि वे वध्य ठहरें, और, वराह-नृसिह जैसे आकस्मिक अवतारो से काम चल जाये। तब भगवान् महाप्रजापति कश्यप और अदिति के घर, पहले योनिज अवतार हुए,

भगवान् वामन। फिर बलि छले गये।

भगवान् शुक्र के सम्मुख एक अपूर्व अवसर आया। परन्तु वे, संरक्षण-कर्त्तव्य-बद्ध, इस महाआयोजन में बाधक हुए। परिणाम यह हुआ कि बलि को मिल गयी चिरजीविता, मिला अक्षय पाताल। शुक्रदेव गये उनसे बँध।

यही 'बद्धता' कविपन। इसीलिए शुक्रदेव कवि रह गये। ऋषि नही हुए।

इसकी तुलना भगवान् व्यास के व्यवहार से की जाये—

कौरव-पाण्डव दोनों उन्ही के आत्मज। फिर भी जब महानाश के योग्य मुहूर्त्त उनसे पूछा गया तो उन्होंने शुद्धतम निकालकर दे दिया वह कराल मुहूर्त्त! इसी तत्त्व ने ऋषि का आसन थोड़ा उठा दिया।



'कवि' नही बच पाते। कम-से-कम अन्तिम पक्षपात—आदमी के प्रति—बाँधे ही रहता है! कुछ लोग दिखे हैं कवित्व-ऋषित्व की सीमा पर। कभी वे ऋषि होते हैं, कभी कवित्व पर उतर आते हैं। कवित्व से ऋषित्व की ओर छलांग लगती तो फिसलन आ पड़ने पर रपटना भी पड़ता पीछे!

जिब्रान खलील: हिन्दी जगत् के जाने-पहचाने। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण।

जिब्रान खलील की याद प्रस्तुत संग्रह के प्रसंग मे भी मौके की। भारत की भूमि पर बातें करती वह आत्मा-- लो, शायद इस संग्रह जैसी ही सरल, स्पष्ट, हृदयग्राहिणी, मार्मिक, फिर भी गूढ-निगूढ, परत-दर-परत होती बातें।

शब्दो की संक्षिप्त व्याख्या मे जितनी बातों का उल्लेख हुआ, वे ही बीजरूप हैं। परवर्त्ती सारा काव्यशास्त्र बस, इन्ही बीजों का पल्लवन-पुष्पण, इन्ही का विस्तार। देशी-विदेशी सारे काव्यतत्त्वानुदर्शी-तलस्पर्शी विद्वानों की विशद व्याख्याएँ, बस व्याख्याएँ।

नव-रस साहित्य के यूँ ही नही ठहरा दिये गये। मनस्तत्त्व-ज्ञाता महापुरुषो ने सभी रसो की निष्पत्ति देखी थी, कविता से। वस्तुतः, रस-निष्पत्ति हो जाना, पर्याप्त है, काव्य की श्रेष्ठता के लिए, इतना ही चाहिए।

इस संग्रह मे इस जन ने विगत 6 दिसम्बर '85 को हाथ लगाया। 7 को कुछ देखा। 8-9 को डूब गया। बात 10 तक समाप्त हो जानी चाहिए थी। नही हुई। आज तक इसके प्रभाव से बाहर नही निकल पाया। आज 3 फ़रवरी है।

इतनी-सी कविताएँ, इतने दिनो तक, ऐसे विचारो की तरगें·· यह संग्रह इस अंश तक तो सफल सिद्ध ही हुआ।

मैं, पाठक की अपेक्षा, इससे अधिक तो कुछ नही पाता, अपने मन मे।

पटना, स्वामी प्रेम जहीर
3.2.86

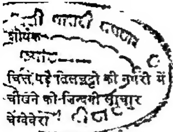
कविताएँ

पृष्ठानुक्रम से

●

कविताएँ

वर्णानुक्रम से



बचाने का जिम्मा

पहचान नहीं बन पायी है
आदमी
आदमी से।
जातियों और वर्गों के
झंडे ऊँचे फहराते

और, क्या हुआ है
कवियो-कलाकारों को ?
भाषा, जाति और देश के दायरे
ये भी नहीं तोड़ पाते !

कितने-कितने नारे
लगाते कवि-बन्धु

एक नया नारा वह
क्यों नहीं लगाते ?

पूरे तो हो चुके
गर्भ के मास हैं—

नारों की दुनिया में
एक नया शिशु जन्मनेवाला है
आदमी की नस्ल बचाने का जिम्मा

अब
कलाकारों के कन्धों पर
आनेवाला है।

27.8.85